

शोध, समीक्षण, सृजन एवं संचार का



वर्ष : 1, अंक:1, जुलाई-सितम्बर 2014

मुक्तांचल

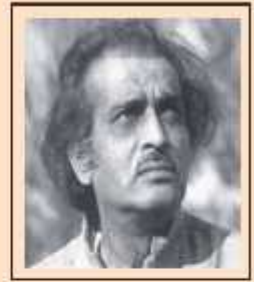


विद्यार्थी मंच

मूल्य : ₹ 50

उस पार से...

सर्वेश्वर दयाल सक्सेना
(15 सितम्बर, 1927 - 24 सितम्बर 1983)



सितम्बर, सर्वेश्वर के जीवन के आरंभ एवं अवसान का महीना है। 15 सितम्बर, 1927 को सर्वेश्वर बस्ती जिले के एक अध्यापक दम्पती के यहाँ पैदा हुए। जीवन के दो दशक पूरे करते ही आजाद हिन्दुस्तान के साथ उनका सरोकार हुआ। युग-जीवन की समस्त विडम्बनाओं एवं विसंगतियों को उन्होंने अपनी रचनात्मकता से उजागर किया है। 'काठ की घाटियाँ' से लेकर 'खूँटियों पर टँगें लोग' तक की काव्य यात्रा में उनका जनवादी स्वर निरंतर अपनी निर्भीक पक्षधरता को मुखर करता रहा है। 'तीसरा सप्तक' के आत्म वक्तव्य से उद्धृत चंद्र सतरें द्रष्टव्य हैं 'जो सत्य है उसे चुपचाप अपनाये रहने से काम नहीं चलेगा बल्कि जो असत्य है उसका विरोध करना पड़ेगा और मुँह खोलकर कहना पड़ेगा कि गलत है।' - "मैं कविता क्यों लिखता हूँ- मैं कविता नहीं लिखता यदि स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद हमारे अधिकतर साहित्यकारों ने वज्रीफे खाने, कुरसियों के लिए गोटे बैठाने और पदों के लिए साहित्यकार का सम्मान बेचने का धन्या न अपनाया होता। तब मैंने शायद कविता न लिखकर प्रशस्ति लिखी होती उन सभी साहित्यकारों की जिन्होंने अपने साहित्य को गौरव प्रदान करने और उसे विराट् व्यापक रूप देने के लिए सच्चे ईमानदार साहित्यिक के रूप में जीवन के संघर्षों के आगे सीना ताना होता, जिन्होंने वर्तमान राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक सभी क्षेत्रों में जर्जर परम्पराओं, रूढ़ियों और विघटित मूल्यों से लोहा लिया होता। आप सच मानिए, यह काम मेरे लिए आज इस वातावरण में कविता लिखने से कहीं अधिक सुखकर होता।"

सर्वेश्वर की लम्बी कविता 'कुआनो नदी के पार' से कुछ पंक्तियाँ-

क्यों हम आदमी को
आदमी की तरह नहीं देख पाते ?
क्यों ये सब फाइलों में भरे पड़े हैं ?
क्यों ये स्कूलों और कॉलेजों में,
क्यों ये बड़े-बड़े दफ्तरों,
ऊँची-ऊँची इमारतों में
क्यों ये एक-एक पाई की जोड़-तोड़ में
क्यों ये शोथे सिद्धान्तों के नीचे
दब कर मर गये,
यदि बच रहे
तो फूली लाश की तरह उबर गये ?
क्यों हर हाथ टूटा है ?
क्यों हर पैर कटा हुआ है ?

क्यों हर चेहरा मोम का है
क्यों हर दिमाग कूड़े से पटा हुआ है ?
क्यों यहाँ कोई जिन्दा नहीं है
चीखता हुआ मैं नदी के किनारे
उस नाव पर लौट आता हूँ
जहाँ से
'मौन रहो और प्रतीक्षा करो' को
एक मंत्र की तरह
जपता हुआ उतरा था,
कुआनो नदी उतनी ही उथली है,
नाव उतनी ही छोटी कीचड़ में फँसी हुई
मुँदें उतने ही बेशुमार,
'कहाँ हो, ओ क्रांति के सूत्रधार !'

शोध, समीक्षण, सृजन एवं संचार का

मुक्तांचल

त्रैमासिक

वर्ष-1, अंक- 1, जुलाई-सितम्बर 2014

संपादक : डॉ. मीरा सिन्हा
सह-संपादक : डॉ. अर्चना पाण्डेय
प्रकाशक : आनंद कुमार सिन्हा
प्रबंध संपादक : सुनील कुमार साव
कला संपादक : शुभागता श्रीवास्तव

व्यवस्थापन :

डॉ. सुनीता साव, डॉ. दीपान्विता माजि, अभिलाषा
तिवारी, जीवन सिंह, सुलेखा कुमारी, प्रतिमा सिंह,
नगीना लाल दास, आनंद प्रसाद नोनिया और अम्बर
चौधरी

विशेष सहयोग :

पुनीत कुमार राय (छत्तीसगढ़), श्रीकांत पाण्डेय
(इलाहाबाद), लक्ष्मण प्रसाद गुप्ता (वाराणसी)
मनोज कुमार साव (उत्तराखंड)

आकल्पन : सोनू प्रजापति

मूल्य

एक अंक- ₹ 50/-

सदस्यता शुल्क

वार्षिक- ₹ 200/-, आजीवन- ₹ 2000/-

संस्थाओं के लिए

वार्षिक- ₹ 250/- , आजीवन- ₹ 2500/-

संपादन और प्रकाशन - अवैतनिक

पत्रिका में व्यक्त विचार से संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं
'मुक्तांचल' से संबंधित सारे विवादों के लिए न्याय-क्षेत्र हावड़ा होगा।

संपादकीय कार्यालय :

आधुनिक अपार्टमेंट, 6/2/1 आशुतोष मुखर्जी लेन
सलकिया, हावड़ा-711 106, पश्चिम बंगाल
संपर्क - 0332675 7195/1686
ई-मेल - muktanchalquaterly2014@gmail.com

संपर्क :

संपादक : 098314 97320,
Email : sinhameera48@gmail.com
सह- संपादक : 098308 39032
Email : pandeyarchanaphd@gmail.com
प्रबंध संपादक : 09836943231
Email : shawsunil30@gmail.com

मुद्रक

शिक्षण

50, सीताराम घोष स्ट्रीट, कोलकाता-700 009



अवस्थिति

शो	संस्तुति
ध	आलेख
स	07 कृष्णदत्त पालीवाल : भवानी प्रसाद मिश्र : कवि कर्म में तप और ताप का नया पाठ 18 प्रो. रविरंजन : गीतकाव्य : रचना और अभिग्रहण
मी	27 डॉ. व्यास मणि त्रिपाठी : मुक्तिबोध: अंगारी चेतना के क्रांतिकारी कारीगर 36 पाण्डेय शशिभूषण 'शीतांशु' : रामदरश मिश्र का उत्तरवर्ती कवि-कर्म
क्ष	अनुशीलन
ण	42 विमल वर्मा : प्रतिरोध के आयाम 49 डॉ. अरविन्द कुमार : ओमप्रकाश वाल्मीकि का काव्य-सृजन
सृ	विमर्श
ज	55 मधुरेश : भारतीय समाज और अल्पसंख्यक समुदाय
न	पुनर्पाठ
सं	63 हेमंत कुमार शुक्ल : रामचरितमानस : लोक निर्माण का व्यावहारिक परिप्रेक्ष्य
चा	गवेषणा
र	66 डॉ. रमाकांत श्रीवास्तव : छत्तीसगढ़ी लोकगाथा : नगोसर कैना 73 नम्रता गुप्ता : लोकगीतों का बदलता स्वरूप और चुनौतियाँ
	कविता
	78 शिव कुमार अर्चन : पाँच गीत
	80 डॉ. मंजुला चतुर्वेदी : ज़िन्दगी, प्रतीक्षा, स्वप्न-कलश, नव रचना
	82 सुधीर रंजन सिंह : सुख, यह मैं हूँ सड़क पर, सड़क सुन्दर कविता है, दुःख
	84 काली प्रसाद जायसवाल : सीख, पिता से मुलाकात, तुम्हारे नहीं रहने पर
	86 रीता राम : तसवीर, जी ही लेते हैं, दुल्हन, मुंबईकर

शोध	नई पहल नया कदम	
	88 रूपेश कुमार :	एक प्रश्न मेरा भी
समीक्षण	कहानी	
	89 डॉ. राणा प्रताप :	पापा आ रहे हैं!
	93 जितेंद्र शर्मा :	उसका आसमान
	भाषान्तर	
	99 के.पी. सिंह 'कर्णदीप' :	जिन्दगी की तलाश में, अपनी धुन (नेपाली कविता) मूल कवि : वीरू बांग्देल मैं घर लौट रहा हूँ, घर (नेपाली कविता) मूल कवि : पद्म क्षेत्री
	101 ओक्साना टोरोसियन एवं रविकांत:	गिखोर (अर्मेनियन कहानी) मूल कथाकार : होवहानेस थुमानियान
सृजन	गतिविधियाँ	
	110 साहित्यिक गतिविधियाँ	
	113 अभिमत	
संचार	114 मुक्तांचल प्राप्ति स्थान	

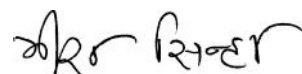
संस्तुति

‘अभिव्यंजना’ त्रैमासिक का प्रकाशन अब ‘मुक्तांचल’ के नाम से होगा। यद्यपि कि ‘अभिव्यंजना’ अपने सिलसिले में पाँचवे अंक के लिए तैयार थी परन्तु शीर्षक जाँच की प्रक्रिया में विकल्प नाम ‘मुक्तांचल’ को ही मान्यता मिल पाई। अतः यह अंक ‘मुक्तांचल’ का प्रवेशांक है। ‘मुक्तांचल’ का कलेवर भी ‘अभिव्यंजना’ की तरह ही शोध, समीक्षा, सृजन और संचार से गठा हुआ होगा। वर्ष में एक अंक विशेष अध्ययन पर केन्द्रित होगा। मुक्तांचल-2 को ‘मुक्तिबोध’ के पचासवें पुण्य स्मरण के अवसर पर विशेषांक के रूप में प्रकाशित किया जायेगा। सभी सुधी समीक्षकों एवं शोधार्थियों से अनुरोध है कि वे मुक्तिबोध के समस्त साहित्य पर एक नई रोशनी डालें जिससे विचार, विमर्श एवं विश्लेषण की प्रक्रिया तेज हो। रचनाकार मुक्तिबोध, विमर्शकार मुक्तिबोध, साहित्यकार की नैतिक जिम्मेदारी को चुनौती देने वाले मुक्तिबोध आज के सन्दर्भ में कहाँ तक ‘जस्टीफाईड’ हैं। आपका विश्लेषण मुक्तिबोध के अध्ययन में एक नया अध्याय जोड़ेगा। साधारणतः आज के अकादमिक जगत में मुक्तिबोध को दुरुहता का पर्याय मान लेने का पूर्वाग्रह फैला हुआ है। हमारी कोशिश मुक्तिबोध से सम्बद्ध अध्ययन एवं मूल्यांकन को ऐसे पूर्वाग्रह एवं दुराग्रह से मुक्त करने की होगी।

सितम्बर का महीना हिंदी भाषा के लिए एक ऐसा महत्वपूर्ण महीना है जबकि ‘हिंदी दिवस’ या ‘हिन्दी पखवारे’ के नाम पर हम कई तरह से जुटते हैं और विमर्श भी करते हैं, लेकिन यह सब कुछ या तो यांत्रिक ढंग से ‘सेलिब्रेट’ कर लेने का होता है या उसके ‘पर’ कतर कर एक खाके में अटाने की कोशिश होती है। जो हमारी भाषा संबंधी कट्टरता को ही जाहिर करती है। भाषा भावों से जुड़ी होती है। वह सतत प्रवाहिनी है, समुज्ज्वला और स्वतंत्र है परन्तु उसको बाँधने की कोशिश में तमाम खर-पतवार इकट्ठे हो जाते हैं। प्रत्येक अभिव्यक्ति के साथ रुचि का भी संबंध होता है। आज लोगों की रुचि ‘इस्तेमाल’ की भाषा में है— साहित्य की भाषा में कतई नहीं। प्रेमचंद ने जिस भाषा में लिखा वह ‘हिंदी’ ही थी— छायावादी दौर का— गद्य अप्रतिम था एवं प्रेमचन्दोत्तर काल की कथा-कहानियाँ एवं उपन्यास की भाषा में जादुई असर था जो आज कहीं नहीं है। आज हिंदी भाषा खून के आँसू रो रही है। उबड़-खाबड़, श्रीहीन भाषा का साहित्य अधिक ढिंढोरा पीट रहा है। हर बात में कुछ अजीब सी लगने वाली चीज हमें अधिक खींचती है क्योंकि तमाशा उसी से बनता है। आज जमाना तमाशे का है, नुमाइशों का है, धमाकों का है। प्रपंच की भाषा हावी होती जा रही है। ऐसी भाषा जो केवल जहर छोड़ती है, धुआँ फैलाती है— संशय से ग्रस्त संवेदनहीन परिवेश खड़ा कर देती है। हमारे सामने पसरा हुआ संचार का संजाल हर वक्त एक नई बेचैनी से आता है और संतुष्ट करता है। हमारी समस्त मानवीय शक्ति का निरंतर अवशोषण और अवक्षय होता रहता है। मुद्रित साहित्य के पठन-पाठन की परिपाटी लगभग समाप्त होती जा रही है। पाठ्यक्रम में प्रस्तावित पाठ्य ग्रन्थों को पढ़ने का कोई आकर्षण नहीं रहा है। मत-अभिमत, विचार, विमर्श सब कुछ लपेट कर अलग रख दिये गये हैं और यह बहुत ही खतरनाक स्थिति है। जिससे निकलने का सबसे कारगर उपाय साहित्य की धरोहर की तरफ लौटना है। साहित्य के बगैर संवेदना विकसित नहीं हो पाती। संवेदित हुए बगैर संप्रेषण नहीं किया जा सकता।

हम ‘साहित्य’ को एक पायदान समझते हैं और भाषा को अपनी चेरी। ऐसे में हिन्दी तो और भी बेचारी होती चली जाती है जब संचारित होता है ‘आयडिया इंटरनेट लगाविंग इंडिया को न उल्लू बनाविंग’..... इस इबारात में उल्लू को छोड़कर कोई भी शब्द हिंदी का नहीं है फिर भी आज इसी को हिंदी कहा जाता है।

ऐसे में जबकि साहित्य के उपभोक्ताओं का बाजार यहाँ पसरा पड़ा है तब पढ़ने-लिखने की संस्कृति को फैलाना बहुत जरूरी है। अतः हम अपनी भाषा के प्रति अपने समर्पण का परिचय देना चाहते हैं तो उस भाषा में संचित विपुल साहित्य का उद्घाटन अवश्य करें।



संपादक

भवानी प्रसाद मिश्र : कवि कर्म में तप और ताप का नया पाठ (जन्म शताब्दी वर्ष पर विशेष)

कृष्णदत्त पालीवाल

प्रोफेसर एवं पूर्व अध्यक्ष, हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय,
समकालीन आलोचना के लब्ध प्रतिष्ठ हस्ताक्षर।

हिन्दी अकादमी से लेकर अनेकानेक संस्थाओं द्वारा सम्मानित।

संप्रति: साहित्यालोचन के क्षेत्र में निरंतर सक्रिय।

कविवर भवानी प्रसाद मिश्र पता नहीं क्यों बहुतों को सीधे-सीधे सपाटबयानी के कवि दिखाई देते हैं। मुझे इस बात या विचार पर सदैव आश्चर्य हुआ।

भवानी प्रसाद मिश्र का कवि कर्म उनके द्वारा जिए गए संघर्षपूर्ण जीवन का ऐसा पाठ या टेक्स्ट है जो अपनी समग्रता-संश्लिष्टता में बहुआयामी और बहुलार्थक है। जो पाठक इनको पूरे परिवेश के सन्दर्भ में 'जानने' और 'समझने' की ईमानदार कोशिश कर रहे हैं- इनके लिए नई कविता के कवियों में यदि कोई एकदम आत्मीय-अपना कवि है- तो भवानी प्रसाद मिश्र। सवाल यह है कि इस निर्भय-संघर्षशील जुझारू जीव के कवि को कितने लोग इतने गहरे-गम्भीर रूप में ग्रहण करने को प्रस्तुत हैं। लम्बे समय तक कविता आनन्द देने की वस्तु समझी जाती रही है। आज भी अनेक पाठक कविता को 'रस' की आनन्दवादी परम्परा में जिए जा रहे हैं। यहाँ तक कि जीवन-संघर्ष के ताप-तनाव को गम्भीरता से ग्रहण करने वाले प्रबुद्ध: पाठक भी कविता को रिझाने वाली कला ही समझ रहे हैं। जबकि भवानी प्रसाद मिश्र, ग. मा. मुक्तिबोध, नागार्जुन या रघुवीर सहाय- सर्वेश्वरदयाल सक्सेना की कविता रिझाती कम खिझाती ज्यादा है। हमारा चैन तोड़ देती है और सोचने को विवश करती है। मूलतः यह 'हृदय की मुक्तावस्था' की कविता न होकर बुद्धि की मुक्तावस्था की कविता है।

मैंने तो शुरू से ही पाया है कि भवानी प्रसाद मिश्र की कविता में विभिन्न चरणों में एक अन्तर्योजना या कहिए एक अखण्ड अन्तःसूत्र विद्यमान है। उनका न तो व्यक्तित्व खंडित है न कृतित्व। वह एक अखण्ड व्यक्तित्व के अन्वेषक कवि हैं। इसलिए उनके कवि-कर्म को वर्षों से नहीं मापा जा सकता। उनके कवि कर्म और स्मृति का अभिन्न सम्बन्ध है। हम जानते हैं कि व्यक्तित्व के खण्डित होने पर स्मृतिभ्रंश होता है और स्मृतिभ्रंश होने पर व्यक्तित्व में दरार आ जाती है। भवानी प्रसाद मिश्र भारत के देश प्रेमी समाज की मानों सजीव स्मृति थे। उनके उठ जाने से मुझे लगता है कि उस देश प्रेमी राष्ट्रीयता कामी समाज संस्कृति की स्मृति लुप्त हो रही है। उन पर गाँधी जीवन दर्शन का इसी अर्थ में गहरा प्रभाव था कि उनकी राष्ट्रीय क्रांति की स्मृति में प्रतिहिंसा की प्रेरणा लेशमात्र नहीं थी। भवानी प्रसाद मिश्र एक ऐसे अहिंसक समाज की राष्ट्रीय आन्दोलन के दिनों में प्रेरणा पुरुष थे जिसमें किसी से बदला लेने का तो कोई सवाल ही नहीं था बल्कि जिसके स्वाधीनता प्रेम को भी एक गौरव-बोध अनुप्राणित किए था जो दृष्टि को 'सर्वजन हिताय' मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, अज्ञेय जी की भाँति व्यापक अर्थ में उदार बनाता था, जिसके लिए 'स्वाधीनता' जीवन का सर्वाधिक प्रधान मूल्य थी- जो इस मूल्य के लिए

सदैव प्राण देने को तैयार रहता था। इसलिए उनके लिए स्वाधीनता केवल आर्थिक राजनीतिक सीमा में बँधी नहीं थी, बल्कि जिसके नैतिक सांस्कृतिक आध्यात्मिक आयाम इतने व्यापक थे कि उसमें परम्परा और आधुनिकता, निर्गुण-सगुण, निगम-आगम, पुराण-मिथक, दर्शन और साहित्य, कला और इतिहास सब समा जाते थे। यह स्मृति उस अर्थ-गर्भ अतीत का प्रतिलेख या नया पाठ तैयार करती थी जो भविष्य को नया अर्थ-भाष्य देता है और पुरानी-नई पीढ़ियों के लिए संवाद सेतु निर्मित करता है।

उनके लिए 'अन्वेषण' का अर्थ 'दूसरा सप्तक' से पहले ही जीवन जगत के नए व्याकरण को जोड़ना और पढ़ना था। कविता में अन्तर्वस्तु और रूप का अन्वेषण, परम्परा के भीतर भारतीय आधुनिकता का अन्वेषण था। इसलिए नए मनुष्य की चाहे उसे साधारण मानव कहिए या 'लघुमानव' उसके अर्थ के बारे में कोई भ्रम नहीं था। जीवन तालाब से वे कमल के फूल अपना और अपने समाज के मन की पीड़ा को कम करने के लिए लाये थे। व्यक्तित्व के अन्वेषण का अर्थ उनके लिए 'स्वाधीनता' मूल्य का नये सिरे से अन्वेषण ही था। क्योंकि उन्होंने 1930 ई. के आसपास कविता लिखना शुरू किया था जो गाँधीजी के सत्याग्रह युग की उठान और अन्वेषण-उत्कर्ष का अपूर्व-युग था। बड़ी विनय से इस कवि ने या पूजा भाव से निवेदन किया था 'पसारे आप आँचल छोड़ दूँ हो जाय जी हल्का' 'दूसरा सप्तक' 1951 तक भवानी भाई की अनुभव बहुल सर्जनात्मकता में नया खमीर उठ चुका था। वे जेल काट चुके थे और स्वाधीनता देवी की पूजा थाली में बत्ती-सा जलने का रहस्य पा चुके थे।

दरअसल, आज उत्तर-आधुनिक समय समाज में मैं पाता हूँ कि न ऐसी कोई दूसरी स्मृति इस देश में है न ऐसा कोई दूसरा रचनाकार जो अपनी बात को निर्भयता से कहने का कलेजा रखता हो। उनके जीवन की बेहद व्यक्तिगत घटना 'हार्ट-अटैक' को लेकर विविध संग्रहों में निरन्तर आने वाली कविताओं के मूल में 'गीत फरोश' काव्य संग्रह की 'घर की याद' कविता को पाया जा सकता है- यह कविता जेल-जीवन में परिवार की स्मृति है। 'सिर उठा रहे सरसों के फूल' 'बाहर की होली' 'आशातीत' आदि

कविताओं में स्वाधीनता आंदोलन की समय की ध्वनियाँ हैं। वैसे भी 'गीत फरोश' का रचनाकाल 1930-1943 तक का समय घेरे है। यह समय सत्याग्रह युग के स्वाधीनता संग्राम की चेतना का समय है जिसमें वह प्रत्यक्ष रूप से सक्रिय थे। उनकी मनोभूमिका में एक आंतरिक संकल्प उमड़ रहा था। 'अर्थ जाता ही नहीं जग में विद्रोह कोई' और 'अरमान' गाता था कि "खाइयों में मौत की जो गा सके गायक वही है"- कविता में गाँधी जीवन दर्शन का 'खादी चरखा' वाला स्वदेशी स्वाभिमान प्रबल था। मन का नारा यही था-

क्षुद्र क्षुद्रता भूले अपनी निज महत्त्व भूले महानता

अनाहत आनंद बरसकर धरती पर भर दे समानता।

जीवन का गाँधी पथ श्रम के साहित्य का नया पाठ पढ़ाता था। प्रेम के अनंत अनंत रूप 'गीत फरोश' की कविताओं में मिलते हैं। प्रकृति की राग-अनुराग 'वे हैंसे और आया वसंत। खिल गये फूल लग गयी डाल।' इस तरह लयात्मक जीवन की झंकृतियाँ कभी 'सतपुड़ा के जंगल' बनती हैं। कभी 'सन्नाटा' कभी 'गीत फरोश'। यह 'गीत फरोश' कविता 1951 के अज्ञेय जी द्वारा संपादित 'प्रतीक' में छपी थी और इसे माखनलाल चतुर्वेदी का आशीर्वाद प्राप्त था। इस कविता ने रातों रात भवानी प्रसाद मिश्र को प्रसिद्धि के आसमान पर बैठा दिया था लेकिन ऐसे भी लोग जो कविता को 'नकल' कह रहे थे और इससे कवि बहुत आहत होता था कि हिन्दी आलोचना का यह बौद्धमवाद क्यों इस तरह से प्रहार कर रहा है। सच बात यह है कि 'गीत फरोश' का अन्दाजे बयां और था जिसमें ध्वन्यर्थ चक्र की तरह घूम रहे थे- 'यह गीत वहाँ पूने में लिखा था'। वे मजबूरी में सिनेमा के लिए गीत लिखने पूणे गये थे।- तभी कहा था 'जी भीतर जाकर पूछ आइये आप, है गीत बेचना वैसे बिल्कुल पाप। क्या करूँ मगर लाचार-हारकर गीत बेचता हूँ जी हाँ, हुजूर मैं गीत बेचता हूँ।' मन गीत बेचने का नहीं था मन में कवि का संकल्प था जो कहता था-

कलम अपनी साथ

और मन की बात बिल्कुल ठीक कह एकाध

जिस तरह हम बोलते हैं, उस तरह तू लिख

और इसके बाद भी हमसे बड़ा तू दिख

चीज ऐसी दे कि जिसका स्वाद सिर पर चढ़ जाय,
बीज ऐसा बो कि जिसकी बेल बन बढ़ जाय।

भवानी प्रसाद मिश्र छायावादी-स्वच्छंदतावादी-युग में कविताएँ लिख रहे थे लेकिन छायावादी काव्य-मुहावरे से लगभग दूर थे-छायावादी इन्हें लकीरों में ही अच्छे लगते थे। किसी भी छायावादी कवि का उन पर जादू सवार नहीं था। वह अपनी काव्य राह खोज रहे थे- एकदम अलग - मौलिक राह। 'गीत फरोश' की तमाम कविताएँ कवि 'अन्वेषी' की विद्रोही प्रवृत्ति का सौन्दर्यशास्त्र रचती देखी जा सकती है। 'दूसरा सप्तक' 1951 की उनकी कविताएँ नयी कविता का बीज- पाठ लेकर सामने आती हैं। देश में आजादी की पौ फट रही थी और हर ओर उल्लास था- नये सपने थे। 'दूसरा सप्तक' ने उनकी वे विशिष्ट कविताएँ प्रकाशित हुईं जिनसे कवि तो स्थापित हुआ ही- नयी कविता का नयाकास मुहावरा 'गीत फरोश' 'घर की याद', 'सन्नाटा', 'सतपुड़ा के जंगल' जैसी कविताओं से अविस्मरणीय बन गया। जनता की स्मृति में इन कविताओं ने ऐसा स्थायी निवास बनाया कि इनकी चर्चा के बगैर आज भी उनकी कवि कर्म की पहचान अधूरी रह जाती हैं। ये आरंभिक दौर की बिम्ब प्रधान लयात्मक सह अनुभूति की कविताएँ हैं- कवि की काव्यानुभूति में 'कमल के फूल', 'बूँद टपकी एक नभ से', 'मंगल वर्षा', 'प्रलय', 'टूटने का सुख', 'वाणी की दीनता' जैसी प्रखर सर्जनात्मकता का विस्फोट है। 'बूँद टपकी एक नभ से' का एक अपूर्व बिंब देखिए- 'हँस रही सी आँख ने जैसे किसी को कस दिया हो।' अर्थ के सम्प्रेषण का भाव वक्रोक्ति की विमुग्धता में ठगे जाने तथा 'कस दिया' में है।

यह कवि ब्रिटिश साम्राज्यवाद की लूट से लुटे-पिटे देश की गरीबी से साक्षात्कार करता है और कवि कह उठता है

एक दिन होगी प्रलय भी
मत रहेगी झोपड़ी
मिट जायें नीलम-निलय भी।

प्रलय काल में समुद्र उमड़कर निगल लेगा तब दृश्य क्या होगा 'तारणि गंगा तरणिजा व्याल होगी। करन पायेगा हमें आश्वस्त जननी का अभय भी।'।

भारत का स्वाधीनता आन्दोलन कवि मन को मथ रहा

है। 'पराधीनता' को समाप्त करने का 'अरमान' माखनलाल चतुर्वेदी, भगवती चरण वर्मा, बच्चन, दिनकर, सुभद्रा कुमारी चौहान सभी उत्तर छायावाद के कवियों को बेचैन कर रहा है। कविता में लघु सत्ता-महत्ता पर ध्यान गया है और युग की मनोभूमि की अनुभूति में 'जन गरजे घन गरजे' की केदार धुनें उठ रही हैं। सत्याग्रह युग में बौद्धिक गम्भीरता से सांस्कृतिक नवजागरण का प्रकाश फल रहा है। पराधीनता की स्थिति यथार्थ और लघुता की स्थिति है- उसे बदलना है। छायावाद की काव्यात्मक मुद्रा में जिस दार्शनिकता का निवास था उससे भवानी प्रसाद मिश्र का कवि अपने को मुक्त कर लेता है। हिन्दी कविता में छायावाद-प्रगतिवाद इस समय द्वंद्वमय स्थिति में है। प्रयोगवाद- नई कविता का अन्तर्जगत आध्यात्मिक नहीं है। गाँधी जी की विख्यात शैली है- सत्य को अन्तर्ध्वनित होते हुए गह लेना। भारतीय परिवर्तन की अनेक धाराएँ- कम्युनिस्ट पार्टी से लेकर हिन्दू महासभा तक का तेजी से आरंभ हो रहा है। देश गुलामी से आजादी की ओर बढ़ रहा है। परिवर्तन की इस अन्तःसलिला में तूफान उठ रहा है। गाँधी का नेतृत्व विस्मयकारी परिवर्तनकारी ही नहीं, क्रांतिकारी है- एक क्रांतिकारी प्रलय का प्रवाह चल रहा है- जिसका संकेत भवानी प्रसाद मिश्र ने 'प्रलय' कविता में दिया है यह कहकर-

जब समुंदर बढ़ रहा होगा
बड़ी भगदड़ मचेगी
और बड़वानल निगोड़ी
सामने आकर नचेगी

भवानी भाई का कवि स्वाधीनता के लिए बलिदान की पुकार करता है- इस कविता में काल-गति का विशिष्ट स्वर संदेश है-

माथे को फूल जैसा
अपने चढ़ा दे जो
रुकती सी दुनिया को
आगे बढ़ा दे जो
मरना वही अच्छा है।

इसी समय माखनलाल चतुर्वेदी गा रहे हैं- विश्व की अभिमान मस्तानी जवानी कौन कहता है कि तू विधवा हुई

खो आज पानी'। गाँधी के आने से पूरा परिवेश ऐसा हो गया है कि 'मैं हूँ एक सिपाही' का स्वर देश में गूँज रहा है। माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' की प्रेरणा से यही रक्त भवानी प्रसाद मिश्र की कविताओं में भर जाता है। विजयदेव नारायण साही ने 'लघुमानव के बहाने हिन्दी कविता पर एक बहस में' शीर्षक निबन्ध में लिखा है कि 'गाँधी जी हिन्दुस्तान के लिए गाँधी इसलिए नहीं थे कि वे हमारे विचारों या आदर्शों के प्रवक्ता थे। उनका जोड़ देश के साथ कहीं और गहरा था। वे हिन्दुस्तान के जिन्दगी के रिदम (Rhythm) की अभिव्यक्ति थे, इतनी पूर्णता के साथ जो उस युग में किसी और को प्राप्त नहीं थी: और आगे भी किसी को प्राप्त हो सकेगी कहना कठिन है। (छठवाँ दशक, पृ. 270) एक ओर कालिदास, भवभूति, भास, रवीन्द्रनाथ की परम्परा दूसरी ओर दादाभाई नौरोजी, वीरसावरकर, अरविन्द, विवेकानन्द, गाँधी- बिनोवा- जयप्रकाश नारायण, लोहिया का स्वदेशी चिन्तन भरा स्वाभिमान। भवानी प्रसाद मिश्र ने इन सभी से बहुत कुछ सीखा। फलतः उन्हें सृजन में स्वाधीनता आंदोलन की नैतिक सांस्कृतिकलय का वर्चस्व बढ़ता ही गया है। छायावाद और नयी कविता के बीच क्रमशः विकसित होता हुआ संवाद माखनलाल चतुर्वेदी, बच्चन, दिनकर, नवीन और भवानी प्रसाद मिश्र ही स्थापित करते हैं। इसलिए छायावाद तथा नयी कविता के बीच जिस तरह कलह कोलाहल की बात प्रगतिवादी आलोचक करते हैं- वह मूलतः मनगढ़न्त है। यहाँ 'महानायक' की जगह 'लघुमानव' ने ले ली है। यह लघुमानव अमेरिकी पूँजीवाद का बच्चा नहीं है- 'जनसाधारण' है मामूली आदमी है। यही मामूली आदमी नागार्जुन की कविता के केन्द्र में है- भवानी प्रसाद मिश्र की कविता के केन्द्र में है। यहाँ मेरा उद्देश्य नागार्जुन या भवानी प्रसाद मिश्र में कौन श्रेष्ठ है- उस श्रेष्ठता की छानबीन करना नहीं है- बल्कि उस मनोभूमि को समझना है- जो दोनों धारार्यों की कवियों में सक्रिय रही है। नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, माखनलाल चतुर्वेदी, नवीन, बच्चन, भवानी प्रसाद के काव्य में जन के प्रति आस्था जितनी दृढ़ होती गई है- कविता उतनी ही हठी और ठोस। सन् 1930-35 के बीच जब जयशंकर प्रसाद 'कामायनी' का सृजन

कर रहे थे तो कह रहे थे- 'यहाँ सतत संघर्ष, विफलता, कोलाहल का यहाँ राज है। अंधकार में दौड़ लगा रही मतवाला यह समाज है। यहाँ 'सब समाज' भाष्य करने पर पता चलता है कि केवल जर्जरित सामन्तवाद, दमफूलता पूँजीवाद, हिंसक साम्राज्यवाद और आस्थाविहीन अस्तित्ववाद, छलिया मानववाद नहीं है- इसमें प्रबल शक्ति केन्द्र है गाँधी विचार दर्शन। यह दर्शन हजारों साल की हमारी मौन मुखर परम्पराओं का अमृत रस है। इसलिए गाँधी जी की अहिंसा निर्बल की अहिंसा नहीं है- वीरों की क्रांतिकारी अहिंसा है। प्रेमचंद्र और जैनेन्द्र, माखनलाल चतुर्वेदी और नवीन, मैथिलीशरण गुप्त और भवानी प्रसाद मिश्र यों ही गाँधी विचार दर्शन के सन्त योद्धा रचनाकार नहीं हैं उसके पीछे हमारी परम्पराओं का सत्य ध्वनित प्रतिध्वनित है। इसलिए जो मैथिलीशरण गुप्त या भवानी प्रसाद मिश्र के अहिंसा विचार दर्शन को पूँजीवाद का सहकार मानते रहे हैं उन्हें आज ठंडे दिमाग से सोचने की जरूरत है। पूँजीवाद मानववाद का चेहरा क्रूर और अमानवीय है लेकिन गाँधी विचार दर्शन करुणा प्रेम सत्याग्रह से भरा हुआ क्रांतिकारी है।

नव युग लाने में माखनलाल चतुर्वेदी और भवानी प्रसाद मिश्र को नागार्जुन और शमशेर से कम मानना सत्य का गला घोटना है। आपातकाल के वर्षों में (1975-76) नागार्जुन पैर पीछे खींच सकते हैं, रघुवीर सहाय, धर्मवीर भारती भाग खड़े हो सकते हैं लेकिन अज्ञेय, निर्मल वर्मा, भवानी प्रसाद मिश्र जैसे रचनाकार नहीं। नवीन जी ने, माखनलाल चतुर्वेदी ने, सोहन लाल द्विवेदी ने, गिरिजा कुमार माथुर ने जब भी भवानी भाई को देखा- 'लोहा' पाया- लोहे जैसा तपता पाया। भवानी प्रसाद मिश्र के कवि मानस के निर्माण में तीन साहित्यकारों की अविस्मरणीय भूमिका रही है। उन्होंने 'जिन्होंने मुझे रचा' शीर्षक अपनी पुस्तक में इस सत्य का खुलासा स्वयं किया है। उनके सामने तीन नाम हैं अपने प्रेरणा नायकों के (1) श्री माखनलाल चतुर्वेदी (2) बालकृष्ण शर्मा नवीन (3) पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी।

आज भवानी प्रसाद मिश्र को केवल कवि कहकर छोड़ देना उनके साथ अन्याय करना होगा। वे अनूठे गद्यकार, सम्पादक, अनुवादक तथा पत्रकार रहे हैं। एक समय में

स्वाधीनता आन्दोलन के ऐसे योद्धा रहे हैं कि गाँधी जी के 'अंग्रेजों भारत छोड़ो' आन्दोलन के 1942 के आह्वान पर अपने प्राणों को हथेली पर उछालते हुए आगे बढ़े हैं। सन् 1934 तक वे खादी पहनने लगे थे और स्वतंत्रता आन्दोलन में कूदने के सपने। उन्हीं दिनों देशप्रेम के राष्ट्रवादी भावना से ओत-प्रोत कवि सोहनलाल द्विवेदी के सम्पर्क में आये। उन्होंने भवानी भाई के सरल भाषा में कविता लिखने तथा जन जन तक पहुँचाने वाली वागर्थ कला को बढ़ावा दिया। दूसरी बात वे कविवर सोहनलाल द्विवेदी से त्रिपुरा कांग्रेस के अधिवेशन में मिले- उसमें भवानी भाई ने किसी बड़े कवि सम्मेलन में प्रथम बार कविता पाठ किया और श्रोताओं को मंत्रमुग्ध। इस अधिवेशन के अध्यक्ष सुभाष बाबू थे और उनसे गाँधी जी का मन असंतुष्ट था। गाँधी के प्रति दोनों में आदर था और दोनों कवियों की कविता में- नर्मदा का प्रवाह, क्षिप्रता, स्वच्छता तथा गहराई है। उन्होंने लिखा है- "मैं नर्मदा के तीर पर पैदा हुआ हूँ, नर्मदा के किनारे रहकर मैंने पढ़ना-लिखना सीखा है और इसीलिए उनके जैसे तत्त्व मेरे प्राणों को छूते हैं। श्री सोहनलाल द्विवेदी की कविता में उस रहस्यमयी रात ने वे सारे तत्त्व घोल दिये थे ऐसा ही मुझे लगा।" (भवानी प्रसाद मिश्र रचनावली, सं. बिजय बहादुर सिंह, खण्ड-8, पृ. 140) सोहनलाल द्विवेदी के प्रसिद्ध काव्य का तपस्वी स्वर भवानी प्रसाद मिश्र के प्राणों में भर गया और देशप्रेम और स्वाधीनता की लड़ाई में हिस्सेदारी का संकल्प। यही संकल्प 'मेरे साहित्यिक बुजुर्ग श्री मैथिलीशरण गुप्त' में उन्होंने पाया। भवानी भाई ने इसी लेख में कहा है कि "मेरे पिता के भी वे प्रिय कवि थे। उनकी कविता पुस्तकें इसीलिए घर में थीं। मेरे तेरह-चौहद वर्ष के होते-होते तक 'भारत भारती' और 'जयद्रथ वध' हिन्दी जगत में अत्यन्त लोकप्रिय हो चुकी थीं। और ये दोनों पुस्तकें ही वे काव्य ग्रंथ हैं जिन्हें मैंने सबसे पहले पढ़ा और एक हद तक जिन्हें मैंने कंठस्थ कर लिया।" (वही, खण्ड-8, पृ. 142) उनका दहा मैथिलीशरण गुप्त से परिचय दिल्ली में साउथ एवेन्यू में हुआ- दोनों बुंदेलखंडी आत्मीयता में डूब गए।

'दुविधाहीन कवि सुविधाहीन व्यक्ति: नवीन' कलाकार विधाता के हाथों पूरी तरह तराशे हुए व्यक्ति थे। उनका

रेखाचित्र भवानी भाई ने इस प्रकार खींचा है- "छह फुट लम्बा व्यायाम से सधा तथा बलिष्ठ शरीर, विशाल वक्षस्थल, वृषभ स्कन्ध, दीर्घ बाहु, कुछ लाली लिये हुए चिट्ठा रंग, उन्नत भाल, नुकीली नासिका, बड़ी और पैनी आँखें, खिंचे हुए होंठ और तेजयुक्त प्रभावशाली मुखमंडल। नवीन जी को कई बार तो देखते ही बनता था। पौरुषेय सौन्दर्य के वे मानो आदर्श थे। उनको देखकर लगता था कि जैसे किसी सही कल्पनाशील मूर्तिकार ने अपनी सारी कल्पना को समेटकर एक मूर्ति गढ़ना तय किया था। साहित्य जगत में ही नहीं, कहीं भी उनके समान व्यक्ति मिलना कठिन था।" सत्याग्रह आंदोलन 1921 में भाग लेने तथा जेल जाने पर नवीन जी का परिचय जवाहर लाल नेहरू, राजर्षि टंडन तथा आचार्य कृपलानी से हुआ। नवीन जी छह बार जेल गए और जेलखाना ही उनके लिए विश्वविद्यालय रहा। नवीन जी से भवानी भाई ने पाया कि हिन्दी समूची राष्ट्रीयता का पर्याय है, मात्र राष्ट्र भाषा नहीं। हिन्दी के प्रश्न पर नवीन की नेहरूजी से अक्सर झड़प हो जाती थी। नवीन जी का गाँधी प्रेम अडिग था और यही अडिग भाव भवानी भाई की प्रेरणा रहा है।

'एक और अद्वितीय माखनलाल जी' ने भवानी भाई की मनोभूमि को मथकर चमकाया है। दादा माखनलाल ने भवानी भाई को दो-तीन मुलाकातों में ही अपना बेटा मान लिया था। दादा ने उनका नया नाम रख दिया था 'बालमोहन'। भवानी भाई ने कुछ कविताएँ 'बालमोहन' के नाम से लिखीं भी- "किन्तु मुझे फिर लगने लगा कि अभी तो ठीक बड़ा हो जाऊँगा तो यह बालमोहन नाम कैसा लगेगा।" अन्ततः बालमोहन नाम से मुक्ति पाई। उधर दादा को 'विशाल भारत', चाँद', 'सुधा', 'सरस्वती', 'माधुरी' ने खूब छापा। फिर दादा स्वयं 'प्रभा', 'प्रताप', 'कर्मवीर' में सक्रिय हुए। दादा का प्रभाव तथा आकर्षण भवानी के बालक कवि मन पर दूर तक पड़ा। उन दिनों छायावाद का बोलबाला था किन्तु भवानी भाई ने पाया कि हिन्दी साहित्य ने दादा के क्रांतिकारी काव्य को धारण नहीं किया है। दादा की ऐसी उपेक्षा उन्हें असह्य लगती थी। लेकिन दादा के प्रति भवानी के मन में असीम राग जागृत हुआ। दादा ने ही 'माँ' कविता सुनाने पर उन्हें यह मंत्र

दिया- “‘तुम्हारा आसान लिखना छूट न जाए, इसकी सावधानी रखना। किन्तु यह भी ध्यान रखना कि आसान लिखना ध्येय नहीं है। ध्येय लिखना है मन की बात, भीतर की बात, भीतर से भीतर की बात, और वह सूत्र हो न हो भाष्य जो मन में न समा सके उसे वाणी तक लाओ। किन्तु जुबांदराजीयत मत करो। कलम को जीभ मत बनने देना। लिखने और बोलने का अन्तर संभाल कर लिखना।” (वही, खण्ड-8) ‘गांधी पंचशती’, ‘गीत फरोश’, ‘चकित है दुख’, ‘अंधेरी कविताएँ’, ‘बुनी हुई रस्सी’, ‘खुशबू के शिलालेख’, ‘व्यक्तिगत’, त्रिलोक संध्या’, ‘नीला रेखा तक’, ‘तूस की आग’ जैसे उनके काव्य संग्रहों की कविताओं को परखते हैं तो हमें गर्व होता है कि घोर अंधकार काल में भी भवानी भाई मशाल लिए खड़े रहे और सत्ता के सामने घुटने नहीं टेके। हमने पाया कि सच कहने में वे एकदम निर्भय हैं-

और न जाने क्या क्या बोला

पिछले साल भवानी भोला

उसकी कविता आग का गोला।

आपातकाल में ‘त्रिकाल संध्या’, ‘अनाम तुम आते हो’, ‘परिवर्तन जिए’, ‘इदं न मम’, ‘शरीर कविता फसलें और फूल’ ‘मानसरोवर दिन’ से लेकर ‘तूस की आग’ 1985 तक इन काव्य संग्रहों की एक लम्बी संघर्ष भरी यात्रा है। हर बार उनकी कविताएँ पिछली काव्य-भूमि का अतिक्रमण करती हैं और नयी राहों का अन्वेषण। आपातकाल जटिल राजनीतिक तनावों का परिणाम था उस समय भी कवि की जीभ तालू से नहीं लगी थी। अज्ञेय, निर्मल वर्मा, फणीश्वरनाथ रेणु और भवानीप्रसाद मिश्र ही चार ऐसे रचनाकार हैं जो लोकनायक जयप्रकाश नारायण के साथ निर्भय डटे रहे। इन चारों ने यह सिद्ध किया कि ‘स्वाधीनता’ जीवन का सबसे बड़ा मूल्य है, इस मूल्य की रक्षा के लिए प्राण देने में कभी हिचकना नहीं चाहिए। ‘माथे को फूल जैसा अपना चढ़ा देजो’ का अर्थ सन्दर्भ हमें भवानी भाई के कवि कर्म से सीखने को मिलता है।

भवानी प्रसाद मिश्र के कवि मानस को ठीक-ठीक जानने-समझने के लिए उनकी जेलयात्रा (1942-1945) तक के दिनों की स्मृति लिए ‘घर की याद’ कविता के

‘पाठ’ के आंतरिक मर्म को गहने का प्रयास करना चाहिए। कविता के ‘पाठ’ का ‘विमर्श’ या डिस्कोर्स करते ही कविता का भाष्य (इंटरप्रेशन) अर्थ बाहर निकलकर सामने प्रकट हो जाता है। ‘गीत फरोश’ की कविताओं का कवि स्वयं कह रहा है-

नहीं जानता कौन अचानक डर में आगी लगा गया है

नहीं जानता कौन युगों के सोते सपने जगा गया है।

नहीं जानता, पायी मैंने पागलपन की साध कहाँ से,

नहीं जानता मेरे पल्ले आया यह अपराध कहाँ से।

‘कोकिल’, ‘नर्मदा के चित्र’, ‘मेघदूत’, ‘सतपुड़ा के जंगल’, ‘सन्नाटा’, जैसी कविताओं का पावनता जनित विवेक ‘घर की याद’ कविता में ‘गिर रहा है बहुत पानी-घर नहीं आया भवानी।’ ‘हाय पानी गिर रहा है घर नज़र में तिर रहा है’। माँ, पिता, घर-परिवार की स्मृति। माता किसान की बेटी और निरक्षर। कवि पिता सीताराम मिश्र का पुत्र। गाँधी और माखनलाल चतुर्वेदी का युग संकल्प भरा मन। वे बहुत आग्रह करने पर भी अपने पाठकों को ‘घर की याद’ कविता सुनाने से कतराते थे। इस कविता को पढ़ते हुए उनकी छाती भर जाती थी, रोने लगते थे। जब ‘गीत फरोश’ या ‘सन्नाटा’ या ‘सतपुड़ा के जंगल’ सुनाने को हरदम तैयार रहते थे लेकिन ‘घर की याद’ तो उनकी पीड़ा की रामायण थी- स्मृति में-

और माँ बिन पढ़ी मेरी दुःख में वह गद्दी मेरी

माँ कि जिस गोद में सिर, रख दिया तो दुःख नहीं फिर

माँ कि जिसकी स्नेह धरा का यहाँ तक भी परवाता

उसे लिखना नहीं आता, जो कि उसका पत्र आता।

पिता कवि थे और साहसी नागरिक-

पिताजी भोले बहादुर, वज्रमुख नवनीत सा उर

पिताजी जिनको बुढ़ापा एक क्षण भी नहीं व्यापा

मौत के आगे न हिचकें, शेर के आगे न बिदकें

बोल में बादल गरजता, काम में झंझा लरजता।

भावना के आकाश में घिर गए मेघों का सघन रूप-

चार भाई चार बहिनें, भुजा भाई प्यार बहिनें

खेलते या खड़े होंगे, नजर उनकी पड़ें होंगे

पिता जी जिनको बुढ़ापा, एक क्षण भी नहीं व्यापा

रो पड़े होंगे अचानक, पाँचवें का नाम लेकर

पाँचवीं में हूँ अभागा, जिसे सोने पर सुहागा
और माँ ने कहा होगा, हाय कितना सहा होगा
इस तरह होओ न कच्चे रो पड़ेंगे और बच्चे
गया है सो ठीक ही है यह तुम्हारी लीक ही है
पाँव जो पीछे हटाता कोख को मेरी लजाता
हवा उनको चैन देना हो सके तो बैन देना।

यह कविता स्वाधीनता आंदोलन के दिनों में माताओं-पिताओं के त्याग तप की अद्भुत स्मृति है। सन् 1942-45 तक की जेलयात्रा में ही बंगला-भाषा सीख रवीन्द्रनाथ को पढ़ डाला। उनकी कविताओं का विशेषकर 54 कविताओं का पूजा गीत नाम से अनुवाद किया। दर्शन में अद्वैत, कद में गाँधी को पसंद करने के साथ मार्क्स के 'पूँजी' का खंड दो अनुवाद किया। सन् 1940-41 तक उनका कविता के क्षेत्र में इतना नाम हो गया था कि उनके कवि कर्म के प्रयोगों को लेकर कविता के पारखी अज्ञेय उन्हें 1943 के 'तारसप्तक' में स्थान देना चाहते थे। वे 1942 में जेल चले गए तो काम नहीं बना। जेल से छूटने पर अज्ञेय जी ने उन्हें 'दूसरा सप्तक' 1951 में स्थान दिया। अज्ञेय जी की तरह मिश्र के भी पैर में चक्र रहे। तीन चार वर्ष से ज्यादा टिककर कहीं नहीं रहे- चाहे शिक्षा का क्षेत्र हो, पत्र-पत्रिकाओं का सम्पादन हो या रेडियो में नौकरी हो या फिर 'सम्पूर्ण गाँधी वाङ्मय का सम्पादन हो।' आर्थिक विषमताओं से घिरने पर चित्रपटों के गीत और संवाद लिखे, संवादों का सम्पादन-निर्देशन किया। लेकिन जीवन में बनावटीपन को पास नहीं फटकने दिया। वह साधारण आदमी के असाधारण जीवट के प्रतीक थे- भारतीय परम्परा के संतुलित समग्र उदाहरण। अद्भुत बात यह है कि बिना परम्परा से नाता तोड़े वह गुप्तजी एवं नवीन की तरह नए चिन्तन को आत्मसात करते हुए नयी पीढ़ी के लिए प्रेरणा बने रहे। परम्परा में रहते हुए उसे कैसे आधुनिक बनाया जा सकता है, यह उनके प्रबन्ध काव्य 'कालजयी' तथा गीतों के संग्रह 'गीत फरोश', 'गाँधी पंचशती' आदि संग्रहों से सीखा जा सकता है। परम्परा को तोड़े बिना कैसे आप्त करते हुए उससे मुक्त हुआ जा सकता है- यह उनके विद्रोह में पाया जा सकता है।

भवानी प्रसाद मिश्र की कवि मानसिकता पर बहुत

गहरा असर इस विचार का रहा है कि राष्ट्र-प्रेम ही प्रेम पुरुषार्थ है। यह प्रेम उन्होंने दादा माखनलाल चतुर्वेदी के जीवन से सीखा था। भवानी भाई 1942 में जेल गए और तीन साल बंद रहे। दादा माखनलाल 1942 के पहले कई बार सत्याग्रह युग के सभी आंदोलनों में जेल गए। बाहर आने पर दादा अंडर ग्राउंड विद्रोहियों के परिवारों की देखभाल करते थे। 'कैदी और कोकिल' जैसी अमर कविता का कवि ब्रिटिश साम्राज्यवाद की हजार-हजार यातनाएँ सहकर भी झुकना नहीं जानता था। इसलिए उनकी देशभक्ति प्रधान कविताओं को सस्ती भावुकता प्रधान कविताएँ कहकर ठुकरा देना सच्ची काव्यानुभूति का अपमान करना है। दादा माखनलाल चतुर्वेदी ने भवानी भाई की काव्यानुभूति को खरा पाकर कहा है कि "इस अंचल (नर्मदा-विंध्य-सतपुड़ा) में युग की सर्वथा ताजी कलम श्री भवानी प्रसाद मिश्र' की है।" जेल के भीतर बंद भवानी भाई ने दादा के यह प्रेरणा वचन सुने तो उनका मनोबल तिगुना-चौगुना हो गया। जेल से छूटने पर भवानी भाई वर्धा के महिलाश्रम में जाकर पढ़ाने लगे। दादा ने यह सुना तो उन्होंने वर्धा महिलाश्रम के सचिव को पत्र लिखकर कहा "देखना, हमारी भाषा का उगता हुआ पौधा तुम्हारे आँगन में किसी तरह मुरझाने न पाये।" इसी बीच दादा अकोला (वर्धा के पास) अध्यक्ष बनकर एक कवि सम्मेलन में गए- वहाँ भवानी भाई ने काव्यपाठ किया तो अध्यक्ष दादा ने अपनी माला उतारकर भवानी भाई के गले में डाल दी और भाई किसनलाल गोयनका ने 500/- रुपये भेंट किए। क्यों न भेंट करते भवानी भाई का काव्य पाठ पाठकों पर जादू करने वाला होता था।

भवानी भाई का काव्य-पाठ, काव्य-रोज, काव्य-लय उनके अनूठे कवि स्थान के कारण ऐसा था कि उनका लिखा-कहा उनका ही लिखा कहा होता था और उसकी नकल तो की नहीं जा सकती। मेरी समझ में उनकी कविताओं का अनुवाद भी असम्भव है। उनका कवि-मान ऐसा संश्लिष्ट संवेदना का पारदर्शी हीरा या क्रिस्टल है जिससे सत्याग्रह युग के मिलियु-मनो भूमिका को समझा जा सकता है, लेकिन उनकी कविताओं की काव्य-टोन, व्यंग्य-वक्रोक्ति भंगिमा ऐसी है कि उनके पाठ का विश्लेषण

संभव नहीं है। उनकी कविताएँ ऊपर से सरल लेकिन भीतर से ठोस-गम्भीर। उनका यथार्थ बार-बार पुकार कर कहता है 'जिनका दुःख गाना है उनका दुःख जानो तो' जन को- गरीब असहाय की पीड़ा-कराह को जाने बिना उनके दुःखों पर कविता लिखना क्रूर मजाक है। अपने सामने के 'प्रगतिवाद' को लेकर उन्होंने चुप्पी नहीं साध ली थी बल्कि गाँधी विचार-दर्शन के व्यापक भाव-विस्तार से उन्मुक्त मन ने विषय की निर्वैयक्तिकता के साथ लिखा और वक्तृत्व कला के साथ लिखा-

यदि दलित वर्ग के प्रति अपनापन प्रगतिवाद
तो तुम मुझको इस घेरे में ले सकते हो
यदि हो सामाजिक न्याय इस हलचल का
तो थोड़ा जिम्मा उसका भी दे सकते हो
ऐसा जिससे

अपना विकास कर सके व्यक्ति बाधा-विहीन
यदि राष्ट्र राष्ट्र के बीच शान्ति हो ध्येय प्रगतिवादी
दल का

तो उस दल का हूँ एक अंश मैं भी अदीन
यदि कहो कि पूँजीवाद खतम करता है यह
तो एक ध्येय की तरह मुझे वह प्रिय होगा
पर पूँजी छोड़े व्यक्ति राज्य सुख ले उसको
तो सोचो फिर यह तत्त्व कहाँ सक्रिय होगा।

इस कविता की ध्वन्यर्थ व्यंजना में साम्यवाद-प्रगतिवाद की सीमाओं का संकेत है। यह कवि एक कविता 'साम्यवादी मित्र से' में साफ कहता है कि 'मत रंगों देश की आजादी को उस रंग से जिस रंग की तुमको खबर नहीं अन्दाज नहीं।' इस तरह के तमाम कथन साक्षी हैं कि भवानी भाई की प्रगतिशीलता का मॉडल प्रगतिवाद-गाँधीवाद की विचार धाराओं का अतिक्रमण करता है। वह मुक्त गाँधीवादी हैं-खूटाबद्ध-प्रतिबद्ध गाँधीवादी नहीं। गाँधी का गाँव केन्द्रित चिन्तन मानता था कि आधुनिकता-औद्योगीकरण गाँव के लोगों को उजाड़कर शहर में भटका देता है। उन्हें उनकी जड़ों से, इतिहास, संस्कृति, परम्परा, स्मृति, भाषण, सामूहिकता से काटकर-अकेला और स्मृतिविहीन बनाता है। इसलिए पश्चिमी विकास का मॉडल घातक है- यह बात गाँधी जी 'हिन्द स्वराज' से लेकर 'प्रार्थना प्रवचन'

तक बराबर कहते रहे हैं। नेहरू जी ने इसी गाँधी मॉडल का तिरस्कार किया और देश को पश्चिमवाद का पिछलग्गू बनाया। पश्चिम ने हर क्षेत्र में हमारा आत्म विश्वास छीनकर हमें आत्म-धिक्कार से भरा आत्म-उन्मूलित मानव बनाया। अज्ञेय जी द्वारा सम्पादित 'दूसरा सप्तक' के इस प्रथम कवि ने प्रयोगवाद-प्रगतिवाद की सीमाओं से बाहर आकर पशुतावादी विकासवादी नगरीकरण के मॉडल पर प्रहार करते हुए व्यंग्य से लिखा-

“आप सभ्य हैं क्योंकि आपके कपड़े स्वयं बने हैं
आप सभ्य हैं क्योंकि आपके जबड़े खून सने हैं
आप बड़े चिंतित हैं मेरे पिछड़ेपन के मारे
आप सोचते हैं कि सीखता वह भी ढंग हमारे
मैं उतारना नहीं चाहता जाहिल अपने बाने
धोती कुरता बहुत जोर से लिपटाये हूँ याने।”

यह कविता 1953 में बापू की पुण्यतिथि- तीस जनवरी को निष्पत्ति पाती है अर्थात् नेहरू युग के 'विकास' और 'प्रगति' के मॉडल को टुकराती है जिस मॉडल पर देश चल पड़ा था और उसी से उपज रहा था अंधा युग। एक ऐसा 'मोहभंग' जिसकी व्यथा बयान बाहर है- किसान मजदूर सभ्यता संस्कृति के मिटने की व्यथा। यही वह कवि है भवानी प्रसाद मिश्र जिसने सर्वोदयी और भूदानी बिनोवा मॉडल को ग्रहण करने का मन बनाया था लेकिन जब बिनोवा जी ने सत्ता दलाली में अपने हाथ 1974-75 के आपातकाल (इमर्जेंसी) में काले किए तो भवानी भाई ने निर्भय भाव से बिनोवा के रास्ते को टुकरा दिया। उन्होंने अपने प्रगतिवादी प्रयोगवादी मित्रों से अलग खड़े होकर इन्दिरा गाँधी के आपातकाल का विरोध किया। उन्होंने आपातकालभर 'त्रिकाल संध्या' की कविताओं का सृजन किया और चार कौओं चार हौओं का नाम लेकर 'चार कौए उर्फ चार हौए' कविता लिखी। यह कविता 16 फरवरी 1976 की है। 'त्रिकाल-संध्या' की ऐतिहासिक भूमिका में लिखा- “इसमें जो चार कौए उर्फ चार हौए हैं। उनमें तब मैंने प्रधानमंत्री, राष्ट्रपति, कांग्रेस अध्यक्ष और श्री संजय गाँधी को गिना था-” (भवानी प्रसाद मिश्र ग्रंथावली, खण्ड-8, पृ.113 सं विजय बहादुर सिंह) यह भी ध्यान आया कि “जो एकदम पकड़कर बन्द कर दिये

गए हैं, कोई और न लिखें, उनमें से अनेक लिखेंगे। और यह घटना ऐसी है कि जो कभी नहीं लिखते थे उनसे भी लिखवा लेगी। जयप्रकाश भी लिखेंगे, शायद मोरार जी भाई लिखेंगे, फणीश्वरनाथ 'रेणु' लिखेंगे। मगर इसे जब जैसा मन में आये कविता में लिखूँ। तो जून 26 सन् 1975 से सुबह, दोपहर, शाम रोज एक कविता अर्थात् एक दिन में तीन कविताएँ लिखना शुरू कर दिया। "प्रायः तो ऐसा हुआ कि तीन कविताएँ भी हुई और यह सब (गाँधी जी के मंगल प्रभात का लय-विलय रूपांतर, सोफोक्लीज के पाठ, एण्टोगोनी का अनुवाद, रवीन्द्रनाथ के गीत-वितान के गीतों का अनुवाद) भी हुआ। क्रम चलता रहा अत्याचार बढ़ते रहे, आतंक और भय इतने घने हो गये कि बिना छोटे भी कई गले ऐसे घुटे कि फिर दूसरी तरफ ऐसे मुक्त कंठ हुए कि देख-सुन लाज से सिर झुकता था कि ये वे हैं जिससे लोग आशा करते थे। चन्द्रशेखर, कृष्णकांत, लक्ष्मीकांत वर्मा क्या राजनीतिक क्षेत्र में चार पाँच आदमी साहित्यकारों में महादेवी वर्मा, रघुवंश, विजयदेव नारायण साही, फरीश्वरनाथ रेणु, अमृतराय सूची शायद खत्म है। बेचारे नागार्जुन जेल गए और फिर दल-बदल लिया। हमारा सबसे बड़ा कलाकार हुसैन। उसको क्या कहें। मैं कहता हूँ इन सबको अपना कर्तव्य क्या, स्वार्थ तक नहीं सूझा। इन्हें इतिहास याद नहीं रहा, इतने घबरा गए। अत्याचार का अन्त कैसे होता है इनके मन में ही नहीं आया। लेखक और कवि हजार हाथों और जीभों से निन्द की प्रशंसा लिखने और गाने में लग गए। इन सबने भी शायद मेरे लिखने की गति को कम नहीं होने दिया और मैं लिखता चला गया।" (वही, खण्ड-8, पृ. 112) हालत यह कि हिन्दी पत्रों ने उनकी कविताएँ छापना बंद कर दिया जो उनसे माँग-माँग कर छापते थे। "हमारे हिन्दी पत्र तब भी मलाई खाते रहे और अब भी खाने की होड़ लगी है।" आलोचकों और व्यंग्यकारों में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, डॉ. नामवर सिंह, हरिशंकर परसाई, कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर ने आपातकाल के समर्थन में सजा को हस्ताक्षर पत्र के साथ रहने का हौसला दिखाया। कुछ लोग अज्ञेय और निर्मल वर्मा के पास भी आपातकाल के समर्थन का प्रस्ताव पत्र लेकर गए। लेकिन इन दोनों ने आपातकाल के

समर्थन-पत्र पर हस्ताक्षर करने से इनकार कर दिया। विद्रोही अज्ञेय उस समय लोकनायक जयप्रकाश नारायण के साथ रहे। आपातकाल से कुछ समय पहले भी अज्ञेय तो लोकनायक जयप्रकाश नारायण की पत्रिका 'एवरी मैन्स' का सम्पादन करते रहे थे। कहना होगा कि माखनलाल चतुर्वेदी, नवीन जी एवं अज्ञेयजी के विश्वास को विद्रोही रचनाकार भवानी प्रसाद मिश्र ने कभी खंडित नहीं होने दिया। आधुनिक हिंदी कविता का इतिहास साक्षी है कि भवानी प्रसाद मिश्र जीवन भर अपने आचरण एवं कवि-कर्म दोनों में पवित्र तूस की आग की तरह सुलगते रहे।

उनके लिए भाषा शब्द क्रीड़ा मात्र न थी- अभिव्यक्ति का ऐसा सम्प्रेषण व्यापार थी जिसमें कथनी-करनी में भेद नहीं था। प्रायः वे माखनलाल चतुर्वेदी की प्रसिद्ध कविता पंक्तियाँ 'तू चाहे मुझको हरि सोने का मढ़ा सुमेरू बनाना मत' गाते थे और 'सिर पर पाग आग हाथों में। रख पानी का घड़ा। जवानी देख कि प्रियतम खड़ा' का प्रतिमान थे। कई बार लगता है कि भवानी भाई की भाषा बह रही है और कवि बारीक और अनायास शिल्प से सिद्ध कवि है। जिस उम्र में ज्यादातर कवि समाप्त हो जाते हैं उस उम्र में भवानी भाई 'तूस की आग' की तरह धधकते रहे हैं। याद रखने की बात यह भी है कि अपने पचास वर्ष से अधिक समय तक कवि रूप में समर्थित रहने वाले भवानी भाई जहाँ साधारण जन की समझ में आने पर भी असाधारण दिखते हैं वहाँ न समझ आने वाले स्थलों में तो असाधारण होते ही हैं। वह यह मानकर चलते हैं कि कविता सामान्य-साधारण कथन नहीं है उक्ति विशेष है असाधारण कथन है।

भवानी प्रसाद मिश्र की मनोभूमि पर राष्ट्रीयता, जनजीवन की चेतना तथा प्रकृति सौन्दर्य की गहरी छाप है। उनके कवि ने प्रकृति का बहुत ही बारीकी या सूक्ष्म-निरीक्षण से चित्रण किया है। 'सतपुड़ा के जंगल' हों- 'नर्मदा के चित्र' या वर्षा के गीत सभी में स्थानीय रंग बहुत है। कवि को वर्षा ऋतु बहुत लुभाती है। क्रांति, आजादी तथा देश भक्ति के गीत गाने वाला यह कवि 'माघ की पूनो' हो या 'मेघदूत' में बेहद लयात्मक है। इस तरह प्रकृति की मूल संवेदना से तदाकार होने की कला में यह कवि प्रकृति-सौन्दर्य-दृष्टि से

अकेला है।

हिन्दी पाठक का ध्यान 'गाँधी पंचशती' की कविताओं (1930-1969) पर जाता है— सत्याग्रह युग की धड़कती स्मृतियाँ अपने समय— समाज—परम्परा से हृदय—संवाद हैं। इन कविताओं में गाँधी का 'वाद' नहीं है। सत्याग्रह, अहिंसा, तप, निष्ठा एवं कर्तव्य का पंचम राग है। हमारी पूरी परम्परा इन कविताओं में पुनर्नवारूप के साथ मौजूद है। गांधी विचार—दर्शन से सिक्त इन कविताओं में उस युग की राजनीति का अर्थ है अपने मूल्यों के प्रति निष्ठा। भूलना न होगा कि गजानन माधव मुक्तिबोध संवेदना के कवि हैं और भवानी प्रसाद मिश्र निष्ठा के। स्वाधीनता आंदोलन के समय जन मन में गांधी के प्रति किस तरह का अदम्य अखण्ड विश्वास रहा होगा। यह कवि कर्म उसका गवाह है। इसलिए कवि की कविताएँ केवल गाँधी विचार दर्शन का प्रत्याख्यान या भाष्य भर नहीं हैं बल्कि उसके आगे का जीवन—सत्य हैं। स्वाधीन भारत में आ रहे बदलावों का संकेत सामाजिक, राजनीतिक वास्तविकता और विषमता को कवि ने दृढ़ता से व्यक्त किया है। आपातकाल हो, भारत पर चीनी आक्रमण हो, गाँधी की हत्या हो, मार्टिन लूथर किंग की हत्या, अरब—इजरायल युद्ध हो— कवि चुप्पी नहीं साध लेता है। बेधड़क बोलता है— देश की गरीबी पर, सांप्रदायिक दंगों पर, दबंगों की गुंडागर्दी पर, कमजोर की पीड़ा पर। यह कवि कहता है कि गांधी की पीड़ा को हमने वर्दी की तरह लिया। इसलिए देश नेहरू के विकास के मॉडल में फँसकर तबाह व बर्बाद हो गया। स्वाधीन भारत में कवि की कविताओं ने तलखी, व्यंग्य, विडम्बना, विसंगति, विरोध, हताशा, पाश्चाताप के स्वर में बोलना शुरू किया तभी तो 'चकित है दुःख'। कभी कहता है कवि कि 'मैं जड़ हो जाना चाहता हूँ'— वह राह से भटका भारत देख नहीं सकता कि स्वाधीनता संग्राम के दिनों में क्या सोचा था और क्या हो गया? लहरों के चित्त पर दीर्घ दुख लेट गया है— अंधेरे समय में कवि अंधेरी कविताएँ लिखता है। 'बुनी हुई रस्सी' की कविताओं में अनुभवों के रेशों को मृत्यु, अवसादी निराशा घेरे हैं। 'खुशबू के शिलालेख' की छोटी या लम्बी कविताएँ उखड़े—उजड़ेमन के बिखराव के लिए बड़ी जटिल एवं दुरूह हैं— जबकि

दुरूहता इस कवि का स्वभाव नहीं है। वह इस स्थिति का स्वयं साक्षात्कार करता है कि 'नहीं ले जा रहे गन्तव्यों तक मुझे मेरे शब्द' अपनी असमर्थता की पीड़ा—यातना का यह इतिहास बेचैन करने वाला है।

यहाँ काव्य—सत्य यह है कि ज्यादातर पातहीन वृक्षों की छांह, स्नेहहीन लोगों की बाह इस भारत के समाज को गहनी पड़ी है। पीड़ादायक काव्यानुभवों से काव्यानुभूतियाँ बढ़ गयी हैं— इस रचनात्मक बनावट में सूखे बाँस के वन हरहरा रहे हैं— सतपुड़ा का जंगल स्मृति से गायब हो गया है। व्यक्तिगत काव्य संग्रह की 76 कविताएँ टूटे मन की थकान से भरी हैं— ये पीड़ादायक मोहभंग की कविताएँ हैं। आजादी के बाद अलग—अलग नामों से कवि के काव्य—संग्रह प्रकाशित अवश्य होते हैं— किन्तु इन सभी में खिन्नता का स्थायी स्वर है। दिल्ली आने पर उस कवि की काव्य—प्रेरणा के स्रोत सूखने लगे। यहाँ गाँधी के सपनों का भारत उसने अपनी आँखों से उजड़ता—लुटता देखा। आजादी के बाद आये सभी काव्य संग्रहों में किसान—पीड़ा मामूली आदमी की पीड़ाओं का एक ऐसा खजाना मौजूद है जिसकी ओर हमारे आलोचकों का अभी ध्यान ही नहीं गया। हम उन्हें गाँधी निष्ठा मानकर बेखबर हैं जबकि भवानी भाई अपने समकालीन मुक्तिबोध, अज्ञेय, रघुवीर सहाय, सर्वेश्वर, लक्ष्मीकांत वर्मा, विजयदेव नारायण साही जैसे कवियों की तरह हो गये हैं— कराहते—झल्लाते, करकते—कसकते अनुभवों के कवि। उनके सामाजिक—राजनीतिक सरोकारों के आयाम सीमाहीन हो गए हैं— जिनमें गाँव शहरों की बन्द गलियों में खड़े बच्चों का दर्द उफना रहा है। निराला की तरह वह कवि निरन्तर नई जमीन पर कविता के सीमान्तों को विस्तृत एवं विविध करता रहा है। रचना जिस तरह के तनाव की ऊर्जा चाहती है वह इस कवि में पर्याप्त है इसलिए वह अनुकरण पर नहीं जीता, अपनी प्रबल आन्तरिक प्रेरणा पर जीता है।

भवानी प्रसाद मिश्र की कविता का अन्तिम अध्याय मोह भंग की सम्पूर्ण पीड़ा का इतिहास है— प्रामाणिक युग—पीड़ा का ऐतिहासिक दस्तावेज उसे कहा जा सकता है। आपातकाल के विरुद्ध 'त्रिकाल संध्या' की कविताओं का यही काल है। इसीकाल में 'इदं न मम' तथा 'अनाम तुम

आते हो' की अनंत विस्तार कथा है। यही काल चक्र 'परिवर्तन जिए' की कविताओं का 'तीर पर कैसे रूकूँ' वाला बच्चन जी जैसा अंगारे पर चलने का मन है। आपातकाल के दौरान बीस महीनों तक मिश्र जी ने प्रतिदिन तीन कविताओं का सृजन किया। लगभग अठारह सौ कविताओं का सृजन कोई मामूली बात नहीं है। उनकी अनुभूति किसी एक मनोभूमि में ही कूट नहीं काटती- उसमें उनके आत्म की निबिड़ता है। काव्यात्मक मुद्रा में अब कोई छायावादी ढंग का 'मेटाफिजिक्स' नहीं है और 'आध्यात्मिक मुद्रा' लापता है। नई कविता के बाद की क्रमशः विकसित होती हुई परम्परा का यह नया परिवर्तन है जो मिश्र जी के कवि कर्म में 'लघु मानव' या साधारण मानव या सहज मानव बनकर झाँकता है। बहुप्रचलित अर्थ में कहें तो 'जनसाधारण' बड़े परिवेश में उठ खड़ा हुआ है। फलतः हमें भवानी भाई की कृतियों के तल में सक्रिय मनोभूमि का विश्लेषण करना पड़ता है क्योंकि यहाँ सतह पर तूफान पछाड़े खाता मिलता है। कविताओं में आक्रोश, खीज, क्रोध, भावावेश, अकुलाहट भर गई है- तात्कालिकता ने कलात्मकता का गला दबा दिया है। 'शरीर कविता, फसलें और फूल' 1980 काव्य संग्रह की कविताओं में अरमान ढह गया है, मित्रता मात्र शिष्टाचार रह गयी है। यहाँ बाजारवाद, भूमंडलीकरण, उपभोक्तावाद तथा उत्तर-आधुनिकतावाद के बादल घिर रहे हैं। कवि का कथन है- 'घेर लिया गया हूँ मैं कठिन काले घेरे में'। इसलिए 'मानसरोवर दिन' की कविताएँ चिन्ता से घिरी हुई हैं। 'कमल के फूल' किसी ने 'मानसरोवर दिन' में चुन लिए हैं- कवि उदास है। कवि को लगता है देश रूपी बड़ी नाव के तल में छेद हो गया है- पानी भर रहा है। यहाँ वही 'मरुथल' उपस्थित है जो अज्ञेय के उत्तर काव्य 'मरुथल' में मौजूद है। 'नीली रेखा तक' 1984 की लम्बी-छोटी कविताओं में 'थार का मरुथल' है जिसे कवि अनमने नयनों से देख रहा है। फिर 'तू से की आग' 1985 में गाँधी विचार दर्शन निचुड़ कर आता है। प्रश्नाकुल कवि जानना चाहता है-

'किसकी बात करें
कवि की
किसान की
शब्द की श्रम की
या पैसे की बाजार की
राजनीति की चालाकी की
सरासर झूठ की
डंडे के बल पर कराये जा रहे श्रम की
चुनना मुझे है।' (तू से की आग, पृ. 93)

जीवन के अन्तिम दौर में मिश्र जी के कवि ने आत्मान्वेषण और राजनीतिक चेतना की आग भरी कविताएँ लिखी हैं और दिल्ली छोड़कर नर्मदा में जल समाधि लेने का मन बनाया है।

सार संक्षेप यह कि भवानी प्रसाद मिश्र का आजादी से पहले का काव्य और उसके आसपास का आजाद भारत में रचा गया काव्य उल्लास-आशा, प्रकृति-लय में मोहक है और काव्य टोन में अपूर्व-अर्थ बहुल ध्वनियाँ हैं। गाँधी-विचार दर्शन का अमृत-रस है। किंतु स्वाधीन भारत में गाँधी-विचार-दर्शन की घोर उपेक्षा ने कवि मन को पीड़ा से केले की पत्ते की तरह चीर दिया है। आपातकाल ने उनके गाँधी-विचार-दर्शन में निष्ठावान मन को पुट्टों तक चोट खाई गाय का दर्द दिया है। इन्होंने पाया कि गाँधी को पूरी तरह नकार कर 'भारत दैट इज इंडिया' पश्चिमवाद, भूमंडलीकरण, उत्तर-आधुनिकतावाद की आँधी में शामिल हो गया है। यह आँधी हमारे सभी मूल्यों को उखाड़ रही है और सत्ता उसकी जड़ों को नष्ट करने के लिए मट्टा डाल रही है। यह विचारों के अंधकार का संकट काल है जिसमें महाआख्यानों का अन्त हो गया है। उस इतिहास का अंत हो रहा है जिसे व्यास-वाल्मीकि, बुद्ध-महावीर, कबीर-तुलसी-जायसी, अरविन्द-विवेकानंद, तिलक-गाँधी, जयप्रकाश नारायण-लोहिया-अम्बेडकर ने निर्मित किया था। यह सोचकर भवानी प्रसाद मिश्र का हृदय पीड़ा से भर जाता था कि भारत फिर से पश्चिम का नया उपनिवेश बन रहा है और जातीय स्मृति को मिटा रहा है।

संपर्क:

ए 102/3 एस. एफ. एस. फ्लैट्स, साकेत, नई दिल्ली-110017, मो. 9910978680

गीतकाव्य : रचना और अभिव्यक्ति

रवि रंजन

हिंदी विभाग, केंद्रीय विश्वविद्यालय के छात्रावास आचार्य, समकालीन आलोचना में अपनी विशिष्ट पहचान रखते हैं। साहित्यालोचना पर आपकी 'साहित्य का समाजशास्त्र' और 'सौन्दर्यशास्त्र; व्यावहारिक परिदृश्य आलोचना का आत्मसंघर्ष', 'अनमिल आखर', 'भक्ति काव्य का समाजशास्त्र और पद्मावत' सहित अनेक पुस्तकें प्रकाशित हैं।

गीत एक आदिम काव्य विधा है, जिसका सीधा संबंध 'गायन-योग्य मनोदशा' से है। जब यह मनोदशा स्वतःस्फूर्त ढंग से पैदा होती है तो मन में एक प्रकार की समस्वरता आ जाती है, जिसका प्रभाव आदमी के मुखमण्डल पर सहज रूप में लक्षित होने लगता है। सामान्य जन की इस गायन-योग्य मनोदशा का मूर्तन एकान्त में और संग-साथ में भी, प्रायः किसी पर्व-त्योहार या मांगलिक उत्सव आदि के समय देखा-सुना जाता है। इतना ही नहीं, कठोर श्रम करते हुए किसी श्रमिक या श्रमिक समुदाय द्वारा कुछ गुणगुनाते हुए तल्लीनतापूर्वक अपना कार्य संपादित करते रहने की प्रक्रिया में भी इसे देखा-परखा जा सकता है। 'गीत' की वैधानिक संरचना पर सैद्धांतिक चर्चा करते हुए कुछ गीतकारों एवं आलोचकों ने इस 'गायन-योग्य मनोदशा' को 'शब्द की लय' एवं 'अर्थ की लय' के बजाय 'मनोदशा' के रूप में चिह्नित किया है, जो गीत की मूलभूत ऊर्जा है। कहना न होगा कि गायन-योग्य यह मनोदशा ध्वनि-शब्द का आधार लेकर ही गीत के रूप में व्यक्त होती है। वस्तुतः किसी रचना के गीत होने के लिए उसमें भावों की तीव्रता तथा उनकी एकतानता का होना अनिवार्य है, क्योंकि इसी से उस मनोदशा का जन्म होता है, जो गीत का प्राण-तत्त्व है।

'कविता कुसुम माला' (जून, 1909, प्र.सं.) की भूमिका में लोचन प्रसाद पाण्डेय ने काव्य में तीन प्रकारों की चर्चा की थी : गीति काव्य, श्रव्य काव्य और दृश्य काव्य। स्पष्ट ही उन्होंने काव्य के दो परंपरागत भेदों (श्रव्य और दृश्य) से गेय अथवा गीतिकाव्य को अलग कर काव्य का एक तीसरा भेद भी माना था। संभवतः तब उनकी जानकारी में आधार स्वरूप केवल पूर्वागत गीति-परंपरा ही थी, जिसमें कथा-गीति से छंदबद्ध स्फुट रचनाओं के सभी नमूने और गेयता के तत्त्वों से संपन्न छोटे गीत भी एक साथ थे और उन्हें कल्पना ही नहीं थी कि विद्वान आलोचकों और प्रातिभ गीतकारों के बीच अहमहमिका के फलस्वरूप कालान्तर में 'गीत काव्य', 'गीतिकाव्य' से अलग हो जाएगा— ठीक उसी प्रकार जैसे 'सांग लिरिक' विदेशों में 'लिरिक' से अलग हो चला है, जबकि दोनों का मूल 'लायर' नामक वाद्य यंत्र ही है। संस्कृत में तो 'गीति' एक छंद-विशेष है, जो गान-पद्धति के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। वस्तुतः 'गीति' गायन के किसी विशेष निकाय की प्रकृति है न कि उसके योग्य शाब्दिक रचना की लयात्मक पहचान। आरंभिक अर्थध्वनि पर ध्यान देने से स्पष्ट होता है कि 'गीत' की अन्तःप्रकृति एवं अनिवार्य चरितार्थता 'गीति' संगेयता की पहचान अर्थात् गीत-कला की हैसियत से कलावस्तु 'गीत' में अनुस्यूत होती है।

'गीति' और 'गीत' की यह बहिरन्तर एकमेकता गीतकाव्य के समानान्तर 'लिरिक पोएट्री' के स्वीकार से ही धीरे-धीरे खण्डित हो चली। छठे दशक के प्रबंध काव्य के प्रभेदों से विलग 'लिरिक' के अर्थ में, हर तरह की वाचिक कविता, जिसमें लय का निर्वाह होता था, गीति काव्य की परिधि में पहचानी जाती थी और 'सांग'

के अर्थ में मात्र गेय-संगेय छोटी कविता 'गीत' कही जाती थी। छठे दशक से 'गीति' और 'गीत' में भ्रामक अन्तर पर बहस रुक गयी और रचनाकार एवं प्रस्तोता की ओर से कविता के दो ही व्यावहारिक भेद रह गए- वाचिक और गेय। चूँकि ये दोनों व्यावहारिक भेद इसलिए प्ररूपगत हुए। जाहिर है कि लोचन प्रसाद पाण्डेय को 'श्रव्य' और 'दृश्य' से 'गेय' का, या उनके अनुसार गीतिकाव्य का इतर बोध वहाँ तक नहीं था कि वे गेय काव्य की भिन्न रचना-प्रक्रिया और अभिग्रहण प्रक्रिया का भी विवेचन-विश्लेषण कर सकते। फिर भी उन्होंने उसी वक्त आज के विचारकों के लिए गेय कविता की अलग पहचान का प्रश्न उठा दिया था।

'गीत' शब्द का मूलार्थ है- 'गाया हुआ', अर्थात् गान का गायनोत्तर गुण (विशेषण)। इस तर्क का अवशिष्ट प्रमाण 'गीता' के शब्दार्थ में भी है- 'गायी हुई कथा।' यहाँ ध्यातव्य है कि पहले 'गेय' शब्द 'गायन-योग्य संरचना' और ऐसी संरचना की 'गायन-योग्यता', दोनों अर्थों में प्रचलित था, जिसके पूर्व ही 'गान' संज्ञा और क्रिया की भूमिका में था। बाद में गायी हुई संरचना के लिए 'गीत' विशेषण प्रयुक्त हुआ। संभवतः 'गेयता' भी रचना में गाने की परंपरा के द्वारा ही सिद्ध हुई। तभी पहले जनसमूह ने और बाद में आचार्यों ने 'गीत' विशेषण को ही गेय वस्तु के लिए संज्ञा की भूमिका में स्वीकृत किया। इस अर्थ में 'गीत' शब्द के रूढ़ होते ही 'गेय' शब्द संज्ञा की भूमिका छोड़कर विशेषण मात्र रह गया। जाहिर है कि 'गेय' शब्द कंठ-स्वर-संयोजन के अनेक प्रकारों में अगेय के विपरीत सारे प्रकारों का लक्षण है। इस मीमांसा के अनुसार 'गेय' शब्द कंठ से लय में स्वरित किये जाने की योग्यता से गीत के अस्तित्व को ही अनेक बार एकमेक कर देता है। फलतः गीत के नाट्यशास्त्रीय प्राचीन षड्विध लक्षणों में स्वर, रस, राग, मधुराक्षर, अलंकार एवं मनोदशा की प्रामाणिकता का विधान किया गया है।

सुस्वरं सरसंचैव सरागं मधुराक्षरम्।

सालंकारं प्रमाणं च षड्विध गीत लक्षणम्॥

अतः यह कहना अनुचित न होगा कि अगेयता के आग्रह से 'अगीत', जो 'अकविता' के वजन पर गढ़ा गया,

'एण्टी सांग' है। 'गेय' - जब गानार्थक भूमिका में- 'गीत' को 'प्रीसीड' करेगा तब निश्चित रूप से गेय मनोभाव से उत्पन्न तथा गान-चेष्टा के साथ विचरित कविता, अगेयात्मक रचनाशीलता से निर्मित कविता से पूरी भाषिक एवं वैधानिक संरचना एवं प्रक्रिया में भिन्न होगी। वह गायन के द्वारा ही उपर्युक्त ढंग से प्रस्तुत्य और सहानुभव के द्वारा ही ग्राह्य होगी। कहना न होगा कि गीत की संप्रेषणीयता और उसके साधारणीकरण की यह विशेषता वाचिक या वैचारिक कविता से खुद को अलगा लेती है, क्योंकि जहाँ पाठक या श्रोता वाचिक कविता की अर्थसंगति का प्रभाव सहज अनुपंग से ग्रहण करता है वहीं गीत का श्रोता स्वर और लय की प्रतिध्वनि से उत्पन्न अनुबोध एवं आसंग से उसका तत्काल श्रवणकर्ता-मात्र न रहकर तत्क्षण ही मनोभागी हो जाता है। दूसरे शब्दों में, गीतकाव्य का ग्रहणकर्ता, प्रस्तोता की भाव-भंगिमा का दर्शक और शब्द-रचना का श्रोता होते हुए भी अनुपंग-मात्र से अर्थ संगति ढूँढ़ने और चरितार्थता की अपेक्षा में रुके रहने के बजाए गीत में प्रस्तुत मनोलय के सूत्र से अपनी मनोलय को जोड़कर रचना से एकतानता प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार वह गीत में व्यंजित मनःस्थिति और किसी अनुपात में उसकी रचना-प्रक्रिया का भी भागीदार बनकर अपने जीवनानुभवों को तत्क्षण ही सजग एवं स्वरित अनुभव करने लगता है। या यूँ कहें कि वह गीत का सहभोक्ता और अन्ततः उसका प्रकट या प्रच्छन्न अनुगाता हो जाता है। गीतकाव्य का यह अनुगाता, जो उसका ग्रहणकर्ता, श्रोता या प्रकाशित हो जाने के बाद पाठक भी है, अपनी एवं प्रस्तोता की ओर से गेयकाव्य मनःसंश्लेष को मनोलय की एकतानता के द्वारा स्वकीय कर लेता है। दूसरे शब्दों में, गीत भी गान-लय के संप्रेषण से किसी भी अनुगाता का स्वकीय हो जाता है। अतः गान (विशेषतः सवाद्य गान) के पूरे संगीत की संलयात्मक भूमिका का निर्वाह करने की क्षमता केवल गीत की संरचना में होती है, वाचिक कविता में नहीं। इसलिए मानना पड़ेगा कि संगीत-रचना का, विशेषतः कंठ-गान का मनोवैज्ञानिक पक्ष भी गीत की रचना-प्रक्रिया में दूर तक सक्रिय रहता है। साथ ही, गाने की इच्छा एवं मनःस्थिति गायन-योग्य सामग्री के रचने की मनःस्थिति से भी जुड़ती है और इस प्रकार संगीत का मनोविज्ञान दोनों

पर लागू होता है। कहा जा सकता है कि संगीत के मनोविज्ञान से गीत की संरचना किसी न किसी रूप में अवश्य अनुकूलित होती है।

संगीत को 'प्रत्यक्षदर्शनात्मक प्रतीक' के रूप में स्वीकारते हुए सुसन लैंगर ने 'फीलिंग एण्ड फार्म' पुस्तक में लिखा है कि उसे किसी भी तरह भाषा नहीं कहा जा सकता क्योंकि भाषा में प्रयुक्त शब्दों का अपना निश्चित शब्दकोशीय अर्थ होता है जबकि संगीत में न तो शब्द-संग्रह होता है और न ही उसके घटकों का कोई निश्चित अर्थ ही। इसी प्रकार संगीत में जो व्यक्त होता है वह भाषा के माध्यम से कभी व्यक्त नहीं हो सकता। लैंगर ने संगीत को भावनाओं की अभिव्यंजना मानने से इंकार करते हुए कहा है कि संगीत के इतिहास में सतत विकास होने वाले रूपों को महत्त्व प्राप्त हो जाता है, भाषाभिव्यंजना को रूप की तनिक भी आवश्यकता नहीं होती। संगीत के कारण भावों की अभिव्यंजना या भावजागृति हो तो उसका महत्त्व नहीं है। संगीतकार भावनाओं की व्यंजना नहीं करता या सुनने वाले के सहानुभाव का आवाहन नहीं करता, वह देता है भावनाओं के रूपों का ज्ञान। गौरतलब है कि सुसन लैंगर की ये तमाम अतिवादी स्थापनाएँ सुप्रसिद्ध रूपवादी विचारक क्लाईव बेल द्वारा कला-चिंतन के क्रम में प्रवर्तित 'सार्थक रूप' की अवधारणा को पुष्ट करने के दौरान की गई। लैंगर की अवधारणा में संगीत की तरह अन्य कलाओं को भी अभाषिक, प्रत्यक्ष-दर्शनात्मक प्रतीकों के माध्यम से भावनाओं की बनावट एवं रूप की अभिव्यक्ति माना गया है।

प्रभावान्विति की दृष्टि से संगीत को कला की पराकाष्ठा के रूप में स्वीकारते हुए डॉ. नामवर सिंह ने लिखा है कि 'हर कलाकार की यह सबसे बड़ी आकांक्षा रही है कि उसकी कलाकृति संगीत की हद को छू ले। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए चित्रकारों ने यदि चित्रकला को अधिक से अधिक ज्यामितिक रूपाकारों में बदलने की कोशिश की तो मलार में जैसे प्रतीकवादी कवियों ने भाषा की सीमा रहते हुए भी कविता को संगीत बनाने का प्रयत्न किया।' (कहानी: नयी कहानी, पृ. 72) नामवर जी से ही विचार सूत्र लेकर यदि कहें तो सच्चा गीतकार गीत-रचना के दौरान संगीत का उपयोग केवल वातावरण-चित्रण के लिए ही नहीं

करता, बल्कि संगीत के उस रागधर्म को भी व्यक्त करता है जिसके तहत रचना का कथ्य अपनी पृथक् सत्ता खोकर संवेद्य के रूप में तत्त्वांतरित हो जाता है। दूसरे शब्दों में सच्चे गीतकार के यहाँ संगीत अनुभवों को अर्थ प्रदान करता है। सच तो यह है कि गीतकाव्य के लिए संगीत केवल अलंकरण नहीं होता, बल्कि उसकी संपूर्ण रचना-प्रक्रिया ही संगीतधर्मी होती है। इस संदर्भ में मुक्तिबोध ने लिखा है कि "काव्य की रचना-प्रक्रिया के अन्तर्गत तत्त्व-बुद्धि, भावना, कल्पना आदि- एक होते हुए भी प्रभाव-संगठन उद्देश्यों की भिन्नता के साथ ही रचना-प्रक्रिया भी, वस्तुतः बदल जाती है। गेय काव्य (लिरिकल पोएट्री) की रचना-प्रक्रिया उस कविता की रचना-प्रक्रिया से बिल्कुल भिन्न है, जो मन की किसी प्रतिक्रिया-मात्र का रेखांकन करती है।" (मुक्तिबोध रचनावली, भाग-5, पृ. 212)

प्रसंगवश यह याद कर लेना अनुचित न होगा कि जिन दिनों हिन्दी साहित्य क्षेत्र में संकीर्णतावादी रूझान के तहत 'नयी कविता' एवं उस जमाने में रचे जा रहे नये गीतों के बीच अनावश्यक द्विभाजिकता का भ्रम पैदा करके दोनों ही रचनाभियानों को परस्पर विरोधी बताया जा रहा था, उस समय भी मुक्तिबोध के मन में कोई अस्पष्टता नहीं थी। उन्होंने लिखा था: "मनुष्य जीवन का कोई अंग ऐसा नहीं है, जो साहित्याभिव्यक्ति के लिए अनुपयुक्त हो। जड़ीभूत सौन्दर्याभिरुचि एक विशेष शैली को दूसरी विशेष शैली के विरुद्ध स्थापित करती है। गीतों का 'नयी कविता' से कोई विरोध नहीं है और न 'नयी कविता' को उसके विरुद्ध अपने को प्रतिष्ठापित करना चाहिए।" (मुक्तिबोध रचनावली, भाग-5, पृ. 333)

देखा जाए तो उत्तरशती का गीतकाव्य एक प्रभावकारी रचनाभियान है, जो विरोध के बजाय पूरकता के अत्यन्त विशिष्ट संबंध में 'नयी कविता' और उसके बाद की समकालीन कविता से संपृक्त रहा है। स्पष्ट ही यह पूरकता परिणाममूलक न होकर गुणात्मक पूरकता है जो आर्मंत्रित या आरोपित नहीं हो सकती। यही वह बुनियादी बात है जिस उलझन को न सुलझा पाने के कारण कई आलोचक 'नयी कविता' और उसके बाद की कविता के समानान्तर रचित नये गीतों की रचना-प्रक्रिया की जगह दोनों रचनाभियानों

को परस्पर पूरक मानते रहे हैं। जबकि वास्तविकता इससे नितान्त भिन्न है। वस्तुतः दोनों के बीच पूरक संबंध दोनों की रचना-प्रक्रियाओं से भिन्न पहलुओं का मनोनीत संबंध रहा है, जिसके अभाव में शायद कविता-मात्र की रचना-प्रक्रिया सम्पूर्ण नहीं हो सकती। सच तो यह है कि समकालीन कविता एवं गीत के संदर्भ में भी यही बात लागू होती है और इनके पारस्परिक संबंध को अन्योन्याश्रयी रूप में देखा जाना चाहिए।

स्व-नियंत्रित चिन्तन-प्रक्रिया के तहत गीतकाव्य की रचनात्मक शक्ति, संभावना एवं वैशिष्ट्य को नजरअंदाज करते हुए प्रभाकर श्रोत्रिय ने लिखा है कि “गीत का भावपरकता से स्वाभाविक संबंध है। कवि पर गीतिमत्ता का दबाव जितना अधिक होता है, उतना ही उसका जीवनानुभव, चिंतन और लक्ष्य आवेग से आच्छन्न हो जाता है। इससे आधुनिक मनोवैज्ञानिक दृष्टि नहीं उपजती जो प्रेक्षण, अनुभूति और कल्पना की निःसंग शल्य-क्रिया करती है। भाव-बोध के साथ मूल्य-बोध की दोहरी चेतना जो कारण की जटिलता का अन्वेषण करती है, गीत की अभिवृत्ति नहीं है। इसीलिए गीतकार प्रायः उद्वेग, आकर्षण, लालसा, मनस्ताप, करुणा आदि की काल्पनिक अनुभूति से ग्रस्त रहता है। गीत के रूपतंत्र से मुक्त हुए बिना किसी कवि के लिए काल्पनिक अनुभूतियों के दबाव से मुक्त होना प्रायः संभव नहीं होता।” (कालयात्री है कविता, पृ. 119)

ध्यातव्य है कि अज्ञेय ने भी एक समय में संस्कृत के किसी छुटभैए आचार्य द्वारा कथित ‘गीतं काव्येन हन्यते’ की तर्ज पर गीत को ‘गतानुगतिक रचना’ कहकर उसकी महत्ता पर प्रहार किया था: “विश्व का कोई भी साहित्य अपने गीतकारों को अपने काव्य में नहीं गिनता।” (आज का भारतीय साहित्य, पृ. 409) जबकि वर्ड्सवर्थ एवं कालरिज द्वारा संपादित ‘लिरिकल बैलेड्स’ का विश्वसाहित्य में महत्त्व सर्वविदित है। इतना ही नहीं, उन्होंने ‘आलवाल’ में अपने समय के गीतकारों को कथावाचकों की परंपरा से संबद्ध बताते हुए लिखा था : “वास्तव में आज का गीतकार न तो संगीत की परंपरा में है, न काव्य की परंपरा में। उसकी परंपरा आल्हा गानेवालों की या कथावाचकों

की परंपरा है। उनमें से अधिकतर स्वयं अपनी परंपरा को न पहचानने के कारण अपनी प्रतिभा का सही उपयोग नहीं करते हैं।” (पृ. 60)

वस्तुतः अज्ञेय की यह टिप्पणी अंतर्विरोधों से भरी है, क्योंकि विभिन्न सप्तकों में असंकलित उस समय के अनेक महत्त्वपूर्ण गीतकारों को छोड़ भी दें; तब भी इन सप्तकों में ऐसी अनेक रचनाएँ संकलित हैं, जो मूलतः गीत हैं। स्वयं अज्ञेय की ‘चिन्ता’ में न केवल अनेक गीत हैं, बल्कि वहाँ उनका गद्य भी प्रगीतात्मक है। उनके एक गीत की पंक्तियाँ इस संदर्भ में द्रष्टव्य हैं

प्यार के उन्माद से भर
पंडुकी भी स्वर बदलकर
सघन पीपल-डाल पर से
थी बुलाती प्रणय-सहचर
छा रहा सब ओर था
अनुराग का कलहास
वह मिलन की प्यास।

‘दूसरा सप्तक’ (1951) में जहाँ भवानी प्रसाद मिश्र, हरिनारायण व्यास, नरेश मेहता और धर्मवीर भारती आदि के गीत संकलित हैं; जो पूर्ववर्ती गीतों से भिन्न है, तो ‘तीसरा सप्तक’ (1959) में भी केदारनाथ सिंह (‘धान गीत’, ‘वसंत गीत’, ‘फागुन गीत’, ‘विदा गीत’), प्रयाग नारायण त्रिपाठी आदि के साथ सर्वेश्वर दयाल सक्सेना ने ‘सुहागिन का गीत’ लिखकर गीत के साथ अपना संबंध स्थापित किया था और कहना न होगा कि इन रचनाकारों का तेवर कहीं से भी परंपरित नहीं हैं। दूसरे शब्दों में, अनुभूति एवं अभिव्यक्ति, दोनों ही दृष्टियों से उपर्युक्त रचनाओं का दायरा भिन्न एवं विशिष्ट है।

काव्य के प्रसंग में गेयता, संगीतात्मकता एवं छन्दोबद्धता को पिछड़ेपन की निशानी घोषित करने को आमादा आधुनिकतावादी समालोचकों को याद दिलाना शायद जरूरी हो कि कदाचित् गीतकाव्य की अभिग्रहण-प्रक्रिया और रचनात्मक प्रभाव को स्वीकार करते हुए बहुत पहले भारतेंदु हरिश्चंद्र ने लिखा था कि ‘जितना काव्य को संगीत द्वारा सुनकर चित्त पर प्रभाव होता है उतना साधारण शिक्षा से नहीं होता। इससे साधारण लोगों के चित्त पर भी इन बातों

का अंकुर जमाने को इस प्रकार से जो संगीत फैलाया जाय तो बहुत कुछ संस्कार बदल जाने की आशा है।' इतना ही नहीं, वे जन साधारण में नवीन संस्कार जगाने के लिए ग्रामगीतों के आदर्श पर गीतकाव्य रचने के पक्षधर थे: 'ऐसे गीत बहुत छोटे-छोटे छंदों में और साधारण भाषा में बनें, वरंच, गवारी भाषाओं में और स्त्रियों की भाषा में विशेष हों। कजली, ठुमरी, खेमटा, कहरवा, अद्धा, चैती, होली, साँझी, लावनी, जाँते के गीत, विरहा, चनैनी, गजल इत्यादि ग्रामगीतों में इनका प्रचार हो और सब देश की भाषाओं में इसी अनुसार हो।' (भारतेन्दु ग्रंथावली, तीसरा भाग)

अपनी जमीन से गहरे जुड़े राष्ट्रीय साहित्य एवं संस्कृति के निर्माण में लोकगीतों की महती भूमिका पर प्रकाश डालते हुए भारत के महान सांस्कृतिक व्यक्तित्वों में एक आनंद कुमारस्वामी ने भी लिखा है: "भारत इंग्लैंड के अनुभव से सीख सकता है। एक प्रगतिशील देश के रूप में इंग्लैंड ने जन गीतों में निहित सार से प्रेरणा ली है। ये गीत वे किसान गाते थे जिन्हें अशिक्षित समझा जाता था। एक समय इंग्लैंड ने जनता के इन गीतों की उपेक्षा की थी। यदि हमने भी अपने लोकगीतों के निहित निर्देशों की अवहेलना की तो हमें भी सांस्कृतिक क्षीणता के युग से गुजरना पड़ेगा। लेकिन एक दिन हमें यह अवश्य स्वीकार करना होगा कि हमने एक महत्वपूर्ण चीज की अनदेखी की है। हमने उन किसानों और अशिक्षितों के हृदय में बसने वाले गीतों की उपेक्षा की है जो शिक्षित लोगों से अधिक 'भारतीय' हैं।... भारत के सुंदर भविष्य का निर्माण वही कर सकते हैं जो भारतीय परिस्थितियों के अनुरूप चीजों की आवश्यकता या अनावश्यकता परखते हैं।" (पूरनचंद्र जोशी: संस्कृति 172)

दरअसल, जो रचनाकार आम आदमी की अनुभूति की संस्कृति और अभिव्यक्ति के रूप प्रकारों से जितनी गहराई के साथ जुड़ा होगा, उसकी रचना उतनी ही स्वाभाविक, जीवंत एवं सम्प्रेषणीय होगी। इस दृष्टि से उत्तरशती में रचित कुछ श्रेष्ठ जनगीतों को 'लोकगीतों की पैरोडी' कहकर सिरे से खारिज कर देने के बजाय उनके रचनात्मक स्रोत, अभिप्राय तथा प्रभाव आदि का मूल्यांकन हिन्दी आलोचना

के समक्ष एक बड़ी चुनौती है।

उल्लेखनीय है कि सहृदय जब तक केवल पाठक रहता है, वह गीत में अंतर्निहित रागात्मक अनुभूति की संरचना को शिद्दत के साथ अपने अनुभव संसार का हिस्सा नहीं बना पाता लेकिन जैसे ही वह गीत की सांगीतिक प्रस्तुति का भोक्ता बनता है— अर्थात् गीत का गायन या वादन आस्वादित करता है, वह गीतकार के स्वानुभूत अनुभव जगत का अनिवार्य अंग बनने की प्रक्रिया में सम्मिलित हो जाता है। इसे रचनाकार और रचना-कर्म के साथ तादात्म्यता के रूप में विश्लेषित किया जाना चाहिए। यहीं पर पाठक/श्रोता का तत्त्वांतरण सहृदय के रूप में हो जाता है और वह गीत का तत्क्षण सहभागी बन जाता है— जो मानवीय संवेदना के मर्म को महसूसकर, या भावन-सामर्थ्य की धरती पर खड़ा होकर गीत का अभिग्रहण करने के दौरान रचना-प्रक्रिया का मात्र साक्षी नहीं, बल्कि अंग बन जाता है। इसी बात को अपने तर्ई रेखांकित करते हुए यतीन्द्र मिश्र ने लिखा है कि "कोई भक्ति का पद हो या शृंगार का वर्णन, उसकी व्याख्या या टीका उतनी गहराई से लिखकर या बोलकर व्यक्त नहीं की जा सकती, जितनी उसको गाकर हो सकती है। किसी संत का लिखा हुआ कोई सुंदर पद, सवैया जब गायक अपनी तन्मयता से राग में निबद्ध करके गाता है, तो अर्थ की व्यंजना बहुत दूर तक, बहुत गहरे और अनंत तक न सिर्फ अनुभूत, बल्कि शंख के वलय की भाँति एक बड़ा सुर का वृत्त बनाती हुई उत्तरोत्तर उर्ध्वगामी होकर आगे बढ़ती है, जो स्वर के धीमा होने पर भी कुछ देर तक बची रहती है। तुलसीदास का 'गाइए गणपति जगबन्दन' उतना अर्थागाम्भीर्य व्याख्या में नहीं देता, जितना उस क्षण देता है, जब कोई सांगीतिक व्यक्ति उसे गाता है।"

बहरहाल, कहना यह है कि केवल तथाकथित पाठक के रूप में किसी गीत को पढ़कर उसकी पंक्तियों में निहित अनुभूति की संरचना को महसूस करना ही नहीं, बल्कि व्याख्यायित करना भी लगभग असंभव है, जिनकी संगीतमय आवृत्ति या गायन सुनकर गीतकार के अनुभव की प्रामाणिकता परिणाम-भेद से मानवीय संवेदना के साथ प्रबुद्ध एवं सहृदय पाठक और श्रोता तक पहुँचती है। हिन्दी आलोचना

में कुछेक ऐसे उदाहरण जरूर मिलते हैं, जहाँ गीतकाव्य के मर्म को पकड़ने की छटपटाहट दिखाई देती है। उदाहरण के लिए सूरदास 'महारास' के प्रसंग में रचित एक पद पर रामविलास शर्मा की टिप्पणी उल्लेख्य है। पद इस प्रकार है—

अरुझी कुंडल लट, बेसरि सौं पीत पट, बनमाल
बीच आनि उरझे है दोउ जन।

प्राननि सौं प्रान, नैन नैननि अटकि रहे, चटकीली
छबि देखि लपटात स्याम घन

होड़ा-होड़ी नृत्य करें, रीझि-रीझि अंक भरें,
ता-ता थेई-थेई उछटत हैं हरखि मन।

सूरदास प्रभु प्यारी, मंडली जुवति भारी, नारी कौं
आँचल लै-लै पोंछत हैं श्रमकन।

इस संगीतमयी रचना में आये उल्लास के अपूर्व चित्र पर रीझकर रामविलास शर्मा अपने मित्र केदारनाथ अग्रवाल को लिखते हैं: “कृष्ण के कुंडलों में राधिका की लट, राधा की बेसर में कृष्ण का पीत पट उलझे (उलझा) हैं (है)। नृत्य घनीभूत है न! वनमाल में दोनों ही उलझ गये हैं। होड़ करके नाचते हैं। सामंती निषेधों की बेड़ियाँ पैरों में नहीं हैं, इसलिए प्राक्-सामंती समाज की स्वच्छंदता के ताल पर नाच रहे हैं। प्राणों से प्राण, नैनों से नैनों का मिलना...रीझ-रीझ कर अंक भरना; ता-ता थेई-थेई उछटत पर जब मृदंग पर थाप पड़े, तब नाद की नसेनी पर मन सुन्न महल पर पहुँच जाए। मंडली-जुवति है; अनेक नाचने वाले हैं। सामूहिक उल्लास। फिर समग्र क्रिया की पूर्ति के फलस्वरूप आँचल से श्रमकन पोंछना रस-निष्पत्ति की पराकाष्ठा है।” (मित्र संवाद, पृ. 164)

अशोक वाजपेयी ने उल्लेख किया है कि “प्रख्यात संगीतकार कुमार गंधर्व ने एक बार लाचारी तोड़ी राग की एक बंदिश का जिक्र करते हुए कहा था कि इतिहास अधूरा सच बताता है, संगीत पूरे सच को पकड़ने की चेष्टा करता है। बंदिश थी: ‘ऐ तूरुक बटमार, बरजोरी माकों गरवा लगाय लेत’। कुमार गंधर्व कहते थे कि इतिहास में यही दर्ज है कि तुर्क सैनिक भारतीय स्त्रियों के साथ जोर-जबरदस्ती करते थे। लेकिन इस बंदिश में उस सुख का भी संकेत है जो इस जोर-जबरदस्ती में मिलता था।” (कवि कह गया है, पृ. 210) एक अन्य संदर्भ में कुमार

गंधर्व ने कहा है : ‘राग तो नंगा होता है, उसे कपड़े हम पहनाते हैं।’ स्पष्टतः यह गरिमामय वस्त्र उस गायन-योग्य शब्द संरचना से निर्मित होता है जिसका रचयिता या तो कोई गीतकार होता है या लोक। यदि गीत किसी शास्त्रीय राग-रागिनी में बड़े रचनाकार ने लिखा हो तो उसकी शब्द-संरचना का मर्म परंपरानुमोदित दीक्षित कंठ से सुनने पर ही अनुभव किया जा सकता है। जबकि लोकगीतों का मर्म, बकौल हबीब तनवीर, ‘कागजपर नहीं, गायक के कंठ में वास करता है।’

गीत-संगीत के प्रसंग में शास्त्र और लोक के अंतःसंबंध के मद्देनजर विख्यात शास्त्रीय गायिका गिरिजा देवी का स्मरण स्वाभाविक है। अपने एक साक्षात्कार-क्रम में ठाकुर जयदेव सिंह के हवाले से वे कहती हैं: “शास्त्रीय गायन को लोक-संगीत ने ही बचाया है। जब हमारे यहाँ मुगलों का आक्रमण हुआ, तब उस समय कलाकार इधर-उधर हो गये। एक शांतिपूर्ण वातावरण में ध्रुपद-धमार, भजन-कीर्तन की जो परम्परा चल रही थी उसमें मुगलों के आने के बाद काफी क्षति हुई कलाकारों ने दूसरों के घरों में शरण पायी, कुछ ने गाना-बजाना छोड़ दिया, काफी क्षति हुई। कुछ खेती करने लगे, कुछ व्यापार में उतर आए। इस तरह स्वस्थ संगीत का वातावरण खत्म हो गया, मगर औरतों के कान में जो गाने पड़े थे, उन्होंने जस-का-तस उसे याद रखा, फिर समय-समय पर वे स्त्रियाँ काज-प्रयोजन में इन्हें अपनी सुविधानुसार गाने लगीं और मुझे लगता है इसी तरह संगीत विलुप्त होने से बचा रहा।” (यतीन्द्र मिश्र: गिरिजा, पृ. 116)

रचनात्मक अभिप्राय एवं प्रभाव की दृष्टि से गीत की रचना-प्रक्रिया में शास्त्रज्ञान एवं लोक-संपृक्ति के कारण उत्पन्न अंतराल को त्रिलोचन और जानकीवल्लभ शास्त्री के गीतों के विशेष संदर्भ में अपने तर्क उजागर करते हुए रेवती रमण ने लिखा है कि “दोनों की रचना-प्रक्रिया में एक भीतरी समानता यह है कि ये अपने से जोड़कर ही चीजों का, काव्य-वस्तु का रंग-रूप संवारते हैं, लौकिक स्तर पर दोनों के शब्द-संयोजन में कोई विशेष फर्क नहीं, लेकिन भाव-पक्ष की परिणति को लेकर जानकीवल्लभ शास्त्री निराला की अर्चना-अराधना वाले भक्त-रूप से

जुड़ते हैं, उनकी प्रतिनिधि चिन्ता प्रेम-भावुकता को दार्शनिक तल पर पहुँचा कर गीत-संगीत को आध्यात्मिक उपलब्धि में ढाल देती है। यह एक तरह से मध्यकालीन संत-भक्त कवियों की रचना-पद्धति है। दूसरी ओर त्रिलोचन भौतिकवादी-यथार्थवादी दिखने के प्रयत्न में रोमैंटिक भाव-बोध के अंतर्गत ही संतुष्ट हो लेते हैं। उनके गीत भी आन्तरिक जरूरत का कम आभास नहीं देते, पर जानकीवल्लभ शास्त्री का-सा निर्द्वन्द्व और निश्चिन्त आत्मालाप वे नहीं लिख पाये।” (कविता और मानवीय संवेदना, पृ.56) किन्तु, भारतीय संगीत परंपरा का अपने आंतरिक कवित्वपूर्ण भोवोद्रेक से सामंजस्य बिठाते हुए जानकीवल्लभ शास्त्री जिस गेय शब्द-संरचना का निर्माण करते हैं, उसकी रचना-प्रक्रिया पर यह टिप्पणी लागू नहीं होती। उदाहरण के लिए ‘मेघ-रंभ्र में मन्द्र सान्द्र ध्वनि/द्रिम-द्रिम-द्रिम उन्मइ मृदंग की’ – जैसे गीतों की रचना-प्रक्रिया को विवेचित-विश्लेषित करना उस आलोचक के लिए नामुमकिन है जो संगीत के नाद-सौंदर्य की बारीकियों से लगभग अपरिचित है।

इस संदर्भ में प्रसाद एवं निराला के गीतों की रचना-प्रक्रिया पर दृष्टि डालना समीचीन हो सकता है। जयशंकर प्रसाद गीत निर्माण प्रक्रिया में अनुभूति के गहन क्षणों में भी उपयुक्त भाषा की सार्थक भूमिका को विस्मृत नहीं करते। सघन अनुभूति के नितान्त रचनात्मक क्षणों में भी शब्द-चयन, शब्द-लय, शब्द-ध्वनि का सायास चुनाव सम्प्रेषण के प्रति गीतकार की जागरूकता को स्पष्ट करता है। इस बात को उनके गीत ‘तुमुल कोलाहल कलह में मैं हृदय की बात रे मन’ के विश्लेषण से समझा जा सकता है।

इस गीत की प्रथम पंक्ति से ही स्पष्ट है कि अनुभव की किस गहराई से यह रचना उद्भूत हुई है। वस्तुतः यह उस व्यक्ति द्वारा रचित गीत प्रतीत होता है, जो भारतीय दर्शन में आए प्रकृति और मनुष्य की पारस्परिकता में द्वन्द्व की जगह समस्वरता या ‘हारमनी’ की खोज कर लेता है। समय के जिस काल खंड में प्रकृति और मनुष्य परस्पर विरोधी भूमिका में व्याख्यायित किए जा रहे हों, विकासशील मानवता की समृद्धि का पैमाना प्रकृति का नृशंस दोहन बन चुका हो, वहाँ गीतकार द्वारा मनुष्य और प्रकृति की उदात्त

समस्वर भूमिका का अंकन उसे भारतीय संस्कृति की अति प्राचीन चिन्तन-सरणि का अनिवार्य अंग बनाता है। गीत की पहली पंक्ति में ही उस दर्शन की ओर संकेत किया गया है। यह कोलाहल और कलह वह है जिसके संसार को छोड़ कर कभी नाविक को विकल्प खोजने के लिए कहा जा रहा था। यहाँ उल्लेखनीय है कि कहने वाला कोलाहल से अलग नहीं, अपितु उसका भागी होकर ही हृदय की बात करना चाह रहा है, जिसे कवि ने मानवीय रूप में प्रस्तुत किया है। वह ‘तुमुल कोलाहल’ चाहे प्रकृति का हो या मानव-समाज का कलहपूर्ण कोलाहल हो, हृदय की बात उसमें ‘हारमनी’ पैदा कर देती है। गीत की विभिन्न अंतराओं में एक क्रम है और ऐसा लगता है कि जैसे गीतकार अपने अस्तित्व और व्यक्तित्व की भीतरी रचना को संवेदना की कई तहों में क्रमशः खोल रहा है। गीत के पहले टुकड़े में बचपन से लेकर वृद्धावस्था तक अनुभव की परिपक्वता को गीतात्मक रूपांतरण द्वारा कई सोपानों में रखा गया है। गीत के आरंभ में कुतूहल और विस्मय है। ‘मलय की बात’ शैशव की पुलक की तरह आ रही है तथा चेतना का थकना उसे शैशव को धारण करने वाले शिशु को जन्म देने वाली माता का प्रसव—पीड़ा से थकना है। इसकी रचनात्मक प्रतिध्वनि कालिदास के ‘रघुवंश’ में सुनी जा सकती है: ‘पश्चिमात् यामिनी यामात् प्रसादमिव चेतना’। रात्रि के अंतिम प्रहर में जैसे चेतना प्रसार पाती है वैसे ही इन्दुमती ने वृद्धावस्था में पुत्र पाकर अपनी चेतना का प्रसार पाया। इस गीत में कौतूहल और विस्मय की अवस्था के बाद आकर्षण का स्रोत, अभिलाषाओं के चित्र, मिलन-विरह की आँख-मिचौली, धैर्य की गहराई, विषम बाधाओं की ध्वनि, चिंतन, अंतःसंघर्ष और अंतर्द्वन्द्व—जैसी यौवन से प्रौढ़ता प्राप्त करने तक की स्थितियों की क्रमिक अवस्थाओं का चित्रांकन और गीत के अंत में एक व्याप्ति एवं चरितार्थता प्राप्त करने की पूरी प्रक्रिया का संकेत भी हुआ है। इस रचना की सर्वाधिक दुर्व्याख्येय पंक्तियों में एक को लें –

पावन की प्राचीर में रुक,

जला जीवन जी रहा झुक;

इस पंक्ति की अंतर्वस्तु को यदि रंग-रेखाओं के सहारे

उभारा जाए तो एक ऐसे कैदी का बिम्ब उभर सकता है जिसके लिए जो बंदीगृह है वह उसके मनःलोक से संबद्ध हो सकता है। यह 'पवन की प्राचीर' है, जो किसी राजा द्वारा निर्मित न होकर परम्पराओं द्वारा निर्मित है, जिसमें झुककर दग्ध जीवन जीने के लिए अभिशप्त है। वस्तुतः शब्दों में विरल रेखाओं से निर्मित इस रेखाचित्र में स्त्रीत्व की अत्यंत कलात्मक पारदर्शी छवि अंकित की गई है। यहीं पर प्रसाद मात्र एक गीत के माध्यम से सम्पूर्ण भारतीय मनुष्य के आध्यात्मिक जीवन-दर्शन को उदात्त रूप में प्रस्तुत कर देते हैं।

गीत का अनिवार्य संबंध गायन-क्रम में प्रयुक्त होने वाले विभिन्न अंग-उपांगों से होता है। प्रसाद के गीतों पर सांगीतिकता अथवा राग-रागिनी की दृष्टि से विचार करने पर स्पष्ट है कि यद्यपि उनके गीतों का संबंध गायन से है, तथापि उन्होंने भक्तिकालीन गीतकारों अथवा निराला की तरह अपने गीतों के संदर्भ में इस संबंध में कोई स्पष्ट निर्देश नहीं किया है। फिर भी, 'बीती विभावरी जाग री' का वाचन-श्रवण करने वाले सहृदय जानते हैं कि यह गीत 'राग भैरवी' में बहुत ही सफलतापूर्वक गाया गया है। कारण यह कि उसकी आंतरिक शब्द-संरचना, निकटस्थ अवयवों का संयोग और अर्थलय 'राग भैरवी' के नितान्त उपयुक्त है। प्रातःकालीन राग को उषाकाल के चित्रण के साथ सम्बद्ध कर देना गीतकार की रागात्मक और सांगीतिक मनोरचना का परिचायक है और इसके गायन-क्रम में भैरवी की आत्मा को मूर्त करने के लिए गीतकार ने ध्वनि-तत्त्व का सहारा लिया है। ऐसे तो 'अम्बर-पनघट में डुबो रही ताराघट ऊषा नागरी' एक चित्र है, पर यह घड़े के जल में डुबोये जाने से उत्पन्न जल की ध्वनि का चित्र है। यदि कोई इस विभावरी को नदी-तट पर बीतता हुआ देखे तो उसे प्रतीत होगा कि नदी की प्रवाहमान जलधारा में हवा की गति के अनुरूप तो अन्तर आता चलता है, वह इस गीत में ध्वनित हो रहा है। दूसरे शब्दों में, गीतकार जयशंकर प्रसाद इस रचना में ध्वनियों के नये प्रवर्तन के द्वारा रात्रि के बीत जाने और सुबह के आने का जो बोध पैदा करना चाहते हैं, उसे भैरवी में जब गले से कई तरह की तानों के संकोच और विकुंचन, आरोह-अवरोह आदि के द्वारा जिन

ध्वनियों के सहारे व्यक्त किया जाता है, वह 'भैरवी' के संदर्भ में इस गीत के लिए अत्यंत उपयुक्त है।

जयशंकर प्रसाद के गीतों की अंतर्वस्तु में हमें वहाँ क्लासिकी यथार्थवाद के दर्शन होते हैं, जहाँ प्रकृति और मनुष्य के बीच द्वन्द्वात्मकता को कलात्मक ढंग से उभारा गया है। उनके गीतों को इस संदर्भ में देखा जाना चाहिए, क्योंकि प्रकृति का परिवेश उभारे बगैर प्रायः वे मानवीय सत्य को निरूपित या चित्रित नहीं करते हैं। 'उठ-उठ री लघु-लघु लोल लहर' गीत में यह बताया गया है कि विषमता और प्रकृति की नियामकता के बीच क्या संबंध है और मनुष्य की जीवंतता कैसे उन लहरों की तरह स्वयं को चरितार्थ करती है।

निराला के 'बाँधो न नाव इस ठाँव बंधु' अथवा 'सुख का दिन डूबे डूब जाय' सरीखे परवर्ती गीतों को अपवादस्वरूप छोड़ दें तो प्रसाद से भिन्न उनके अनेकानेक गीतों में हमें अनुभव के प्रति अतिरिक्त मोह एवं अभिव्यक्ति के प्रति सामान्य पहलकदमी या कई बार अभिव्यक्ति के स्तर पर चमत्कार पैदा करने की प्रवृत्ति दिखाई देती है। नतीजतन उनके अनेक गीत पाठक एवं श्रोता को चुनौती देते-से प्रतीत होते हैं। उदाहरण के लिए जानकीवल्लभ शास्त्री द्वारा 'मंत्र गीत' के रूप में अभिहित निराला रचित 'रचना की ऋजु बीन बनी तुम' की पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं:

रचना की ऋजु बीन बनी तुम!

ऋतु के नयन नवीन बनी तुम!

*पल्लव के उर कुसुम-हार सित,
गन्ध-पवन-पावन विहार नित,
मिलित-अन्त नभ नील-विकल्पित
एक-एक से तीन बनी तुम!
चपल बाल क्रीड़ा अब अवसित,
यौवन के वन मदन में नहीं श्रित,
प्रौढ़ प्राण से शाश्वत विगलित,
तुम जानो कब लीन बनी तुम!*

उपर्युक्त दोनों अंतरालों में किसी अंतर्बंध के अभाव में सहृदय समझ नहीं पाता कि आखिर कैसे ये एक ही गीत के दो अंतराएँ हैं। दूसरे शब्दों में, वह गीतकार के अनुभव

के प्रति अतिरिक्त मोह से घनीभूत इस प्रकरण को तल तक स्पष्ट महसूस नहीं कर पाता। 'गीतिका' में संग्रहीत कई गीतों के साथ ऐसी स्थिति घटित होती हुई दिखाई देती है। प्रसाद एवं निराला के गीतों की रचना-प्रक्रिया पर दृष्टि डालने से जाहिर होता है कि प्रसाद के गीत जहाँ चित्रों का वहन करते हैं, वहाँ निराला के गीत ध्वनियों का। स्पष्टतः 'बादल राग' में निहित नाद-सौंदर्य के मद्देनजर इसे अलग से समझाने की जरूरत नहीं है। दूसरी बात यह कि जहाँ प्रसाद किसी एक प्रतिमा को अपने गीत में उत्कीर्ण करके उसे वहीं समाप्त नहीं करते, बल्कि अनेक छोटे चित्रों को परस्पर गूँथकर एक पूरा अर्थ परिवेश रच देते हैं, वहाँ निराला अपने तमाम शाब्दिक एवं अर्थजन्य परिवेश को एकत्र कर उन्हें अंग-अवयव की तरह जोड़ते हुए अपने संवेद्य की एक प्रतिमा खड़ी करते हैं। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि शाब्दिक संरचना एवं रचनात्मक प्रभाव की दृष्टि से निराला के गीत यदि आवयविक हैं तो जयशंकर प्रसाद के गीत प्रवहमान।

हिन्दी समीक्षा के एक लम्बे समय तक 'कविता' और 'गीत' में द्विभाजकता ही नहीं देखी, बल्कि कई बार उन्हें परस्पर विरोधी तक घोषित किया। एक समय नामवर सिंह ने लिखा था- "मैं मानता हूँ कि समकालीन कविता लिरिक नहीं हो सकती, लिरिक से मेरा अभिप्राय आकारपरक नहीं है।" जबकि सच्चाई यह है कि कविता और गीत परस्पर विरोधी न होकर पूरक हैं। वस्तुतः कविता की काव्यात्मकता को लिरिक से अलग कर कतई नहीं देखा जा सकता। कारण यह कि कविता का लिरिक होना उसके कविता होने की बुनियादी शर्त है जो निरस्त नहीं की जा सकती। एक बात यह भी कि कविता का लिरिकल होना राष्ट्रीयता, प्रगतिशीलता या प्रतिबद्धता के आड़े नहीं आता। अर्डोनो ने सही लिखा है कि "प्रगीत तत्त्वतः सामाजिक होता है। प्रगीत की पुकार का मर्म वही समझ सकता है जो उसकी आत्मपरकता में निहित मानवीयता की आवाज सुन पाता है।" (गरिमा श्रीवास्तव, संपादक: उपन्यास का समाजशास्त्र, भूमिका)

आश्चर्य करने वाली बात यह है कि आगे चलकर अपने पूर्वाग्रह को तोड़ते हुए नामवर जी ने 'प्रगीत और

समाज' शीर्षक निबंध में लिखा: "स्वीकार करना चाहता हूँ कि पन्द्रह वर्ष पहले कविता के नये प्रतिमान में कविता के प्रतिमान को व्यापकता प्रदान करने के लिए जब मैंने मुक्तिबोध की लंबी कविताओं-जैसी वस्तुपरक नाट्यधर्मी कविताओं को भी विचार की सीमा में ले आने के लिए आग्रह किया था तो आत्मपरक प्रगीतधर्मी छोटी कविताओं में निहित सामाजिक सार्थकता की संभावनाओं का पूरा-पूरा एहसास न था।.....कितनी बड़ी विडंबना है कि जिस साहित्य में काव्योत्कर्ष के मानदंड प्रबंध काव्यों के आधार पर बने हों और जहाँ प्रबंध काव्य को ही व्यापक जीवन के प्रतिबिंब के रूप में स्वीकार किया गया हो, उसकी कविता का इतिहास मुख्यतः प्रगीत-मुक्तकों का है, यही नहीं बल्कि गीतों ने जन-मानस को बदलने में क्रांतिकारी भूमिका भी अदा की।" (वाद विवाद संवाद, पृ. 108-109)

उपर्युक्त स्वीकारोक्ति के बावजूद अब तक हमारी आलोचना 'गीतकाव्य' के मूल्यांकन हेतु उपयुक्त निकष निर्मित नहीं कर सकी है। यदि यह कार्य भारतीय काव्यशास्त्र के आचार्यों ने संपन्न नहीं किया तो कम से कम छायावाद के आलोचकों का इस ओर मुखातिब होना जरूरी था, क्योंकि छायावादी कवियों ने प्रभूत संख्या में श्रेष्ठ गीतों की रचना की है। यह विचित्र बात है कि हम एक ही निकष पर 'पेशोला की प्रतिध्वनि' कविता और 'भारती जय विजय करे' गीत, दोनों की समीक्षा करते हैं। जबकि उपर्युक्त स्थिति या नागार्जुन की 'मंत्र कविता' और 'धिन-धिन- या धमक-धमक मेघ बजे' गीत का मूल्यांकन एक ही प्रकार के आलोचनात्मक निकष पर करना बेमानी है। चूँकि कविता से एक हद तक भिन्न गीत की एक अलग रचनात्मक शर्त एवं समझ होती है, इसलिए हिन्दी आलोचना-क्षेत्र में व्याप्त इस अंधसामान्यीकरण की प्रवृत्ति से छुटकारा पाकर हिन्दी में प्रस्तुत कला की आलोचना विकसित किए बगैर भारत की जातीय संस्कृति की जमीन को बचाये रखने में समर्थ पूर्ववर्ती गीतों के साथ-साथ इस तथाकथित उत्तर-आधुनिक दौर में रचे जा रहे श्रेष्ठ गीतों के भी समुचित मूल्यांकन की प्रविधि का विकास असंभव है।

संपर्क :

मो. 09000606742

मुक्तिबोध-अंगारी चेतना के क्रांतिकारी क्रांतीगार

(पचासवें प्रयाण-वर्ष पर विशेष)

डॉ. व्यास मणि त्रिपाठी

एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, जवाहर लाल नेहरू राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, पोर्टब्लेयर, अण्डमान। अण्डमान तथा निकोबार के आदिवासियों के भाषा और साहित्य पर कई पुस्तकें एवं साहित्यिक व्यक्तित्व एवं धाराओं पर लगभग 20 पुस्तकें प्रकाशित। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में आलोचनात्मक आलेख एवं समीक्षाएँ प्रकाशित होती रही हैं। साहित्य अकादमी, नई दिल्ली के हिन्दी परामर्श मंडल के सदस्य। विविध साहित्यिक पुरस्कारों से सम्मानित।

छायावादी-भाव-सौन्दर्य के साथ काव्य-जगत में प्रवेश करने वाले मुक्तिबोध जब नये सिरे से 'सच' को समझने और जीने की दिशा में आगे बढ़े तब उनकी कविता का न केवल रंग और ढंग बदला बल्कि उसका चरित्र भी बदल गया। नये अनुभव व संवेदन में कविता 'जन चरित्र' होकर 'कालयात्री' बनी तो इसलिए कि कवि की वैयक्तिकता और रोमानियत ने सामाजिकता और संघर्ष का स्थान ले लिया था। ऐसे में प्रेम, सौन्दर्य तथा प्रकृति के आकर्षण से अलग कवि जग-जीवन की विसंगतियों, विडम्बनाओं और विद्रूपताओं से जूझने तथा टकराने लगा। पूँजीवादी व्यवस्था से त्रस्त, विषमता से पीड़ित, शोषण से ग्रस्त जन-मन की दुर्दशा देख वह करुणार्द्र और क्षुब्ध हो उठा। असमानता, अभाव तथा असफलता ने उसके हृदय को आन्दोलित कर दिया। उसे एशिया, यूरोप, अमरीका की गलियों की धूप एक जैसी दिखने लगी। कष्ट, दुख, संताप और चेहरों पर पड़ी हुई झुर्रियों का रूप भी एक ही दिखाई दिया। भूख, भय और भ्रष्टाचार के तांडव नृत्य ने स्वतंत्रता, समानता और आर्थिक मुक्ति के सपने देखने वाली मुक्तिबोध की आँखों को इतना चौंधिया दिया कि चारों ओर अँधेरा ही अँधेरा महसूस होने लगा। यह अँधेरा जितना गहराता गया कवि-मन संशय, संत्रास, कुण्ठा, अवसाद से उतना ही घिरता चला गया किन्तु अभिव्यक्ति के सारे खतरे उठाते हुए भी वह यह कहने से अपने को नहीं रोक सका- "कोई आग जल रही कहीं तो भी अन्तस्थ"। कवि अन्तस्थ आग की महिमा को भली भाँति जानता है और यह भी कि भीतर की ज्वाला जितनी धधकेगी क्रांति की लपट उतनी ही तीव्र होगी। जाहिर है- "जिन्दगी बुरादा तो बारूद बनेगी ही।" बारूद की भीषण लपट में जगजीवन की असंगतियों, कुरूपताओं, विषमताओं और विद्रूपताओं के बचे रहने का कोई प्रश्न ही नहीं रहेगा। इसलिए कवि अन्तस्थ आग की ज्वाला को भीतर ही भीतर धधकाये रखने की पक्षधरता व्यक्त करता है। उसे वह आग दिखाई भी देती है-

‘अभ्यन्तर के प्रबोधकारी अग्नि-सरोवर
हमने देखे।
अंगारी झीलें जन-मन के अन्तस्थल की
अपनी आँखों हमने देखी।’

“अँधेरा’ मुक्तिबोध की कविता में बार-बार आता है।
चाहे ब्रह्मराक्षस’ कविता हो या ‘दिमागी गुहान्धकार का
ओरांगउटंग’ अथवा ‘चाँद का मुँह टेढ़ा है’ या ‘चम्बल
की घाटी’- अँधेरा विद्यमान है। अगर चाँदनी है भी तो
उसकी झालरें सँवलायी हुई हैं’ अन्यथा ‘अंधियारे दालान
हैं’ ‘अन्धेरे के मेघ हैं’ ‘स्याह जादू दाँ अथवा जिन्न’ है।
‘तारों के कुहरीले फैलाव’ के बीच-बीच में ‘अंधियारी
जगहे हैं’ और तो और ‘सोन-विचारों की जाँत अन्धेरे में
चलती है।’ ‘एक साहित्यिक की डायरी’ में उन्होंने लिखा
भी है- “मुझे लगता है मन एक रहस्य लोक है, उसमें
अँधेरा है। अँधेरे में सीढ़ियाँ गीली हैं। सबसे निचली सीढ़ी
पानी में डूबी हुई है। वहाँ अथाह काला जल है। उस
अथाह जल से स्वयं को ही डर लगता है। इस अथाह
काले जल में कोई बैठा है वह शायद मैं ही हूँ। अर्थात् और
एक दम स्याह अँधेरे पानी की सतह पर चाँदनी का चमकदार
पट्टा फैला हुआ है, जिसमें मेरी ही आँखें चमक रही हैं,
मानों दो मूँगिया पत्थर भीतर से उद्दीप्त हो उठे हैं।”
(पृष्ठ संख्या 4) अन्धकार, रहस्यमय गहन अंधकार और
उसके भयसंकुल वातावरण में चमकती दो आँखों का
बिम्ब मुक्तिबोध की प्रायः हर कविता में ठीक उसी प्रकार
दृश्यमान है जैसे निराला की ‘राम की शक्ति पूजा’ में ‘है
अमा निशा उगलता गगन घन अंधकार’ के बीच ‘केवल
जलती मशाल’।

मुक्तिबोध की कविता में अगर अँधेरा है तो प्रकाश भी
है। अगर उसमें तिलिस्मी खोह है, चम्बल की घाटियाँ हैं,
धूल और धुँआ है तो अग्नि-सरोवर है, विद्युत लता है,
ज्वाला पखुरियाँ हैं और जगमगाते तारों का उपनिवेश भी
है। यदि ऐसा नहीं होता तो तिमिर के काले कणों में नीली-
नीली विद्युत का सघन बसेरा उन्हें नहीं दीखता। प्रकाश
उनकी कविता का लक्ष्य है। असमानता, असंतोष, विवशता,
लाचारी, भूख, भय, शोषण, दुख-दारिद्र्य के अन्धकार
को मिटाने हेतु वे नव प्रकाश का नव वितान चाहते हैं।

उनके इस कार्य में मददगार की भूमिका में है-

‘लाल वलयशाली
अंगार ज्योति के नीचे’

बैठा वह व्यक्ति जो प्रकाश पुंज है, चैतन्य युक्त है,
क्रांतिदर्शी है-

‘क्रांतिदर्शी कोई

बैठा है पत्थर कुरसी पर आजानु बाहु।’

उसी के चिंतन दर्शन से प्रभावित, प्रेरित और
प्रोत्साहित मुक्तिबोध यह स्वीकार करते हैं कि-

‘‘हो चुका हूँ

विश्व की उन्मेष-ज्वाला-जाल का मैं नम्र बंदी’

और इसी उन्मेष के बल पर वे मेघाच्छन्न व्यूह-
भेदन में तत्पर होते हैं-

‘‘मैं भी काटता चलता चलूँगा अंध मेघ समूह
मानव देश के

सम्पूर्ण तन की शक्ति से

जलती हुई दृढ़ भक्ति से।’

इतना ही नहीं उन्हें हासोन्मुख पूँजीवाद का फ्यूज बल्ब
निकालने और पावन प्रकाश का प्राण बल्ब लगाने की
जल्दी भी है-

‘‘मैं स्याह चंद्र का फ्यूज बल्ब

जल्दी निकाल

पावन प्रकाश का प्राण बल्ब

वह लगा सकूँ।’

(रचनावली-2, पृष्ठ संख्या-249)।

इससे किसी को असहमति नहीं होगी कि मुक्तिबोध की
परवर्ती कविताओं में यह तेवर विद्यमान रहा तथा उनकी
अंगारी चेतना क्रांति- पथ का मशाल बनी रही। उनके
आचरण और विचार में एकरूपता थी तथा लेखनी में क्रांति
चेतना के निर्माण और प्रसार की अद्भुत शक्ति।

यह कहना न होगा कि मार्क्सवाद व्यक्ति के माध्यम से
ही समाजवाद की रूपरेखा प्रस्तुत करता है और मुक्तिबोध
व्यक्ति की वास्तविकता के अंकन द्वारा सामाजिक यथार्थ
का उद्घाटन करते हैं। यही कारण है कि उनका काव्य
नायक वाचक अथवा ‘मैं’ जो व्यक्तित्वान्तरण द्वारा अपने
को वर्गापसरित करता है जिसमें ‘मैं’ नहीं रहता बल्कि

शोषित, उपेक्षित, सर्वहारा, सामान्य जन से उसका तादात्म्य हो जाता है। इस तरह काव्य-नायक (वाचक अर्थात् मैं) व्यक्ति से समाज तक की यात्रा करता है किन्तु स्वयं के विलोपन द्वारा नहीं बल्कि व्यक्तित्वान्तरण द्वारा—

“मैं अपनी अधूरी दीर्घ कविता में

उमगकर

जन्म लेना चाहता फिर से

कि व्यक्तित्वान्तरित होकर

नये सिरे से समझना और जीना

चाहता हूँ सच।”

जग की स्याह सड़कों पर भविष्यत-युद्ध में रत सामान्य जन से कवि कैसे तादात्म्य स्थापित करता है— इसका संकेत भी इस कविता में मौजूद है—

“मुझ पर क्षुब्ध बारूदी धुएँ की झार आती है

व उन पर प्यार आता है

कि जिनका तप्त मुख

सँवला रहा है

धूम लहरों में

कि जो मानव भविष्यत युद्ध में रत हैं

जगत की स्याह सड़कों पर।”

(चाँद का मुँह टेढ़ा है, पृष्ठ संख्या-167)।

मुक्तिबोध की एक लम्बी और आत्मकथात्मक कविता है— “जिन्दगी का रास्ता” इसका काव्य नायक रामू कवि का व्यक्तित्वान्तरित प्रतिरूप है जो घिरी साँझ के सुदूरतम गेरूए किनारे पर मिल के काले धुएँ के बल खाते बादलों को देखता हुआ धूल भरे रास्ते को पार करता अपने काम पर से घर लौटता है। यहाँ यह पहचानना कठिन नहीं है कि मुक्तिबोध ही रामू हैं। पूँजीवादी शोषण व्यवस्था को भंग करती हुई आग की लकीर इस कविता में भी दिखाई देती है—

“आधुनिक सहस्रमुख रावण से द्रोह कर

विद्रोही भूमि के संसार-पुत्रों ने

धुँएँ के उभरते हुए बादलों के ठीक बीच

भागती हुई कौंधती-सी ज्वाला-सी

प्रलम्बित धारा को

आँखों से देखा

अपने ही हाथों से छूटी हुई

(स्टेनगन की ही) वह आग थी

शोषण व्यवस्था को भंग करती हुई

आग की लकीर वह

पृथ्वी पर घूमती।” (मुक्तिबोध की कविताएँ— पृष्ठ संख्या 153)

श्रीकांत वर्मा ने ‘चाँद का मुँह टेढ़ा है’ काव्य-संग्रह की भूमिका में लिखा है— “मुक्तिबोध जिन्दगी में एक-एक स्नायु के तनाव को एक बार जीवन में और दूसरी बार अपनी कविताओं में जीते थे।” इससे साफ है कि मुक्तिबोध ने अपने भोगे हुए यथार्थ को आत्म-जीवन, आत्म-चिन्तन, आत्म-ग्लानि को अपनी कविताओं में प्रकट किया और इस आत्मसंघर्ष की अभिव्यक्ति के लिए फैंटेसी का सहारा लिया। उन्होंने अपनी एक अधूरी कहानी में कहा है— “यह जहालत की दुनिया है। असली दुनिया तो तिलिस्म है जिसमें जान का खतरा है तो राजकुमारी भी है, जिसमें अंधेरा है तो दिल भरी रोशनी भी है।” कहना न होगा के दिवा-स्वप्न मुक्तिबोध की कविताओं में भी है। बकौल नामवर सिंह— “ऐसे भी लोग हैं जिन्हें अचानक लगता है कि या तो वे स्वयं एकदम बदल गए हैं या फिर एक अजीब सी परिस्थिति में आ गये हैं। यह आकस्मिक बोध ही ‘फैंटेसी’ को जन्म देता है। जिनकी आँखें अंधी नहीं हुई हैं उनके लिए हर घटना या दुर्घटना एक झटका है और हर झटका एक ऐसी दुनियाँ में फेंक देता है जो सपना मालूम होती है।” मुक्तिबोध अत्यधिक कल्पनाशील कवि माने जाते हैं तो इसलिए कि उनकी कविताओं में स्वप्नजीवी अन्तर्लोक का प्रकटीकरण सर्वाधिक है। उनकी कल्पना फैंटेसी का रूप धारण कर आती है जिसमें से जीवन का यथार्थ झलक उठता है। मुक्तिबोध मानते हैं कि “फैंटेसी एक झीना परदा है जिसमें से जीवन तथ्य झाँक-झाँक उठते हैं। फैंटेसी का ताना-बाना कल्पना बिम्बों में प्रकट होने वाली विविध क्रिया-प्रतिक्रियाओं से ही बना हुआ होता है।” इसी में वे आगे लिखते हैं कि “फैंटेसी के अन्तर्गत कल्पना का मूल कार्य मन के निगूढ़ तत्त्वों को प्रोद्भाषित करते हुए विभिन्न रंगों में उन्हें अपने समस्त सौन्दर्य के साथ उद्घाटित करना रहता है। मन के ये निगूढ़ तत्त्व

अन्तर और बाह्य की परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया द्वारा उपलब्ध, संपादित और संशोधित होने वाले वे जीवन सत्य हैं कि जो सत्य आन्तरिक संवेदनाओं और बाह्य तथ्यों को परस्पर समन्वित और एकीभूत करके अपना रूप-स्वरूप विकसित करते रहते हैं।” (कामायनी एक पुनर्विचार, पृ. संख्या 7-8) जाहिर है मुक्तिबोध के अन्तर्मन की विरसता, अभावों का अथाह सागर, जीवन का बेगानापन, उपेक्षा, असंतोष, संघर्ष, असफलता, भटकाव, अलगाव आदि की सामूहिक अभिव्यक्ति उनकी फैंटेसियों की आधार भूमि है। उनकी फैंटेसी में एक अद्भुत नगरी का चित्र इस भाँति उभरता है-

“इस नगरी में चाँद नहीं है, सूर्य नहीं है, ज्वाल नहीं है
सिर्फ धुएँ के बादल-दल हैं
और धुँआते हुए पुराने हवा, महल हैं
लाख-लाख घूमती चिनगारियाँ हैं मुतफन्नी
इस नगरी के प्रहरी पहने हैं धुएँ के लम्बे चोगे
साजिश के कुहरे में डूबी।”

(भूरी भूरी खाक धूल-इस नगरी में, पृ. सं. 145)
‘चाँद का मुँह टेढ़ा है’ कविता ‘नगर के बीचों बीच/आधी रात’ से शुरू होती है। ‘अँधेरे में’ कविता का प्रारम्भ ‘जिन्दगी के.... कमरों में अँधेरे’ से होता है। तिलिस्मी खोह का शिलाद्वार वृक्षों के अँधेरे खोह से ढँका हुआ है। अँधेरे में रात का पक्षी चीखता है। रात्रि का जुलूस निस्तब्ध नगर के मध्य रात्रि के अँधेरे में चलता है। अँधेरे में अँधेरा है। अँधियारे में काले सियार से घूम रहे हैं। सागर के तिमिर तले तमाकार पानी है। तिमिर-विवर में अशान्त नागिन पड़ी है। इस तरह फैंटेसी के माध्यम से मुक्तिबोध जिस ‘अँधेरे’ को बार-बार अभिव्यक्ति करते हैं वह जिन्दगी के भीतर और बाहर दोनों ओर का अँधेरा है। यह कभी रूपक और कभी प्रतीक के रूप में व्यक्ति और समाज की दुर्दशा का उद्घाटन करता है तो कभी भयावह वातावरण का। कवि की निजी आभ्यन्तर ग्रन्थियाँ और बहिः समस्यायें भी अपने आप प्रकट होती चलती हैं। दुश्चिन्ता की फैंटेसी बनी जिन्दगी में जब व्यर्थता बोध, आत्म-ग्लानि, भय, निराशा और अवसाद का भाव पैदा होगा तब कविता में श्याम रंग की अधिकता होगी ही। मुक्तिबोध जीवन-जगत

के यथार्थ को ‘अति श्याम रंग फैंटेसी’ के रूप में प्रस्तुत करते हैं-

“जहाँ की काली गलियों की
अति श्याम रंग फैंटेसी
अट-शट अँधेरे, धुंधलका
मैला पानी, गंदी सांस, उबास
सभ्यता की संडास कि चोरी और मुचलका
राख, भाग्य का फेर
चौड़े भाँड़े, मैले बर्तन पड़े ढेर के ढेर
काले कटाह
भीषण कटाह
मलते पीले मटमैले बालक निःसहाय
जा घुसो उन्हीं में तड़ित प्राय
तुम हाथ लगाओ, बर्तन मलो बहुत तेजी से
गलो हृदय में
उनही स्याह निराशा आँखों में आँजो
बर्तन माजों
उतर जाँय सब मोटे छिलके
घिनी सभ्यता के।”

उनकी कविताओं में काजली अथवा श्यामल रंग भारतीय वास्तविकता के रूप में उभरता है-

“काजली भीत पर
वक्र असंगत रेखाओं के
चित्र विचित्र भयानक चित्रों सा प्रभीम यह
भारतीय वास्तव है भीषण दुःस्वप्नों सा।”

मुक्तिबोध ने यह भी स्पष्ट किया है कि जब संवेदनशील मन निःसहाय अनुभव करता है तब उसका काव्यात्मक रंग श्यामल हो उठता है। ‘एक साहित्यिक की डायरी’ के ‘एक लंबी कविता का अंत’ शीर्षक लेख में उन्होंने लिखा है कि ऐसी स्थिति में जबकि बाह्य समाज में संजीवनकारी उत्प्रेरक आन्दोलन या ऐसी संगठित शक्ति नहीं है, एक संवेदनशील मन जिसमें अब तक अवसरवादी कौशल और लाभ-लोभ की समझदारी विकसित नहीं हुई है, केवल अपने को निःसहाय अनुभव करता है। यदि वह कवि हुआ तो सहज मानवीय आकांक्षाओं की पूर्ति के सामाजिक वातावरण के अभाव में उसके काव्यात्मक रंग

अधिक श्यामल, अधिक बोझिल और अधिक आत्मग्रस्त हो जाते हैं। जाहिर है मुक्तिबोध अपने जीये और भोगे यथार्थ को व्यापक वास्तविकता के साथ प्रकट करते हैं। वे यह मानते हैं कि सही कविता वह है जो यथार्थ तत्त्व और यथार्थ रचना-दृष्टि से जुड़ कर मानव-जीवन से अपने को सम्बद्ध करती है।

मुक्तिबोध बृहत्तर जीवन-संदर्भों को आत्मसात करने वाले कवि हैं। उनमें मानवीय जटिलताओं, अन्तर्विरोधों और वस्तुजगत के मूल सम्बन्धों की गहरी परख और पहचान की क्षमता है। उन्हें मानव की दुर्दशा का कारण भी ज्ञात है। वे मानव-जीवन में आयी यांत्रिकता, स्वार्थपरता वैमनस्य और भ्रष्टाचार के लिए पूँजीवादी अर्थ व्यवस्था को जिम्मेदार ठहराते हैं। आजादी के बाद सरकार द्वारा विदेशी पूँजी का आमंत्रण उन्हें फूटी आँखों भी नहीं सुहाया तभी तो उन्होंने 'जमाने का चेहरा' कविता में अपना विरोध दर्ज किया-

“साम्राज्यवादियों के

पैसों की संस्कृति

भारतीय आकृति में बँधकर

दिल्ली को

वाशिंगटन व लन्दन का उपनगर

बनाने पर तुली है

भारतीय धनतंत्री

जनतंत्री बुद्धिजीवी

स्वेच्छा से उसी का ही कुली है।” आर्थिक उदारीकरण

और घर में घुस आये बाजार के वर्तमान युग में अगर मुक्तिबोध जीवित होते तो उनकी नसों पर कितना बल पड़ता इसका अंदाजा सन् साठ में प्रकाशित उनके निबंध 'काव्य- एक सांस्कृतिक प्रक्रिया' के इस अंश से लगाया जा सकता है- “आज का कवि एक असाधारण असामान्य युग में रह रहा है। वह एक ऐसे युग में है जहाँ मानव सभ्यता संबंधी प्रश्न महत्वपूर्ण हो उठे हैं। समाज भयानक रूप से विषमता ग्रस्त हो गया है। चारों ओर नैतिक ह्रास के दृश्य दिखाई दे रहे हैं। शोषण और उत्पीड़न पहले से बहुत अधिक बढ़ गया है। नोच-खसोट, अवसरवाद, भ्रष्टाचार का बाजार गर्म है। कल के मसीहा आज उत्पीड़क हो उठे

हैं।” इसीलिए उनकी कविता में ऐसे बालक हैं जो शोषक वीर्य से जन्म के कारण दो सिर और चार पैर वाले राक्षस के समान लगते हैं, ऐसे आदमी हैं जिनके चेहरे पीले और शरीर पर घाव ही घाव हैं, ऐसी नारियाँ हैं जो गर्भावास्था में भी वजनदार घड़ों को उठाती हैं तथा गृहस्थी चलाने के लिए जी तोड़ परिश्रम करती हैं। कहना न होगा कि पूँजीवाद मूलतः रक्तजीवी व्यवस्था है जिसका महल श्रम की सांसों तथा शोषण की ईंटों से निर्मित होता है। 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' कविता में इस व्यवस्था के भीतरघात को बड़ी बारीकी से प्रस्तुत किया गया है। चाँद वस्तुतः पूँजीवाद का प्रतीक है इसीलिए मुक्तिबोध बहुत सहजता से प्रश्नात्मक कविता की रचना कर देते हैं- 'डूबता चाँद कब डूबेगा' क्योंकि इसके डूबे बगैर आम आदमी का कल्याण नहीं है। 'सूखे कठोर नंगे पहाड़' कविता में कवि महाश्रमिक और जनक्रांति रूप' मजदूर नेता से आग्रह करता है कि वह उन पहाड़ों को अपने बाहुबल से उठाकर इतिहास के समुद्र में फेंक दे। क्योंकि 'सूखे कठोर नंगे पहाड़' पूँजीवादी व्यवस्था के प्रधान तत्त्व शोषण के प्रतीक हैं। इस व्यवस्था में बढ़ती प्रतिस्पर्धा 'अलगाव' भावना को जन्म देती है- यह अलगाव बाहर ही नहीं भीतर भी पैदा हो जाता है-

“इस सल्तनत में

हर आदमी उचक कर चढ़ जाना चाहता है

धक्का देते हुए बढ़ जाना चाहता है

हर एक को अपनी-अपनी

पड़ी हुई है

चढ़ने की सीढ़ियाँ

सिर पर चढ़ी हुई हैं।”

मनुष्य की महाकाव्यात्मक पीड़ा से परिचित मुक्तिबोध की कविताओं में जीवन का नग्न यथार्थ सविस्तार उपस्थित है। असंगतिबोध, विरोधाभास और खोखलेपन के चित्रण से जीवन में समाहित कृत्रिमता अपने आप उजागर हो गई है।-

“पावडर में सफेद अथवा गुलाबी

छिपे बड़े-बड़े चेचक के दाग मुझे दीखते हैं

सभ्यता के चेहरे पर

संस्कृति के सुवासित आधुनिकतम वस्त्रों के

अन्दर का वासी वह

नग्न अति बर्बर देह

सूखा हुआ रोबीला पंजर मुझे दीखता है।”

कवि की नजर उस सांस्कृतिक विकृति पर भी है जो मनुष्य को संवेदनहीन, बर्बर और बौना बनाने पर तुली है। यह अकारण नहीं है कि उनकी कविता में चाँद की रोशनी ऐयारी है जो पुलों के नीचे बैठकर मछलियाँ फँसाने का काम करती है। कवि आधुनिक सभ्यता की खोल में छिपे शोषण के बाधनख की प्रभावात्मकता जानता है। उसे यह भी मालूम है कि सत्य के स्थान पर अपने को स्थापित करने वाले और तथ्य के स्थान पर अपने रहस्य को प्रतिष्ठित करने वाले लोगों के पास जो बड़े-बड़े नाखून और बाधनख हैं उनका शिकार कोई अभागा, आम आदमी ही होगा—

“कैसे सत्य हैं

ढाँक रखना चाहते हैं बड़े-बड़े नाखून

किसके लिए हैं वे बाधनख

कौन अभागा वह।”

आदमी के भीतर और बाहर की दुनिया में एकरूपता का न होना मुक्तिबोध को चिंतित करता है। वे मानते हैं कि आदमी जो दीखता है उसके भीतर एक और आदमी है और वह ठीक वही नहीं है जो सामने है—भय इसी आदमी से है—

“भीतर जो शून्य है

उसका एक बड़ा जबड़ा है

जबड़े में मांस काट कर खाने के दाँत हैं।”

दिमागी गुहान्धकार का ओरांगउटांग’ कविता में कवि अपने अवचेतन की अंधी पतों में छिपे जिस पशु से परिचय कराता है वह न केवल नंगा है अपितु विद्रूप असत्य की शक्ति का प्रतिरूप भी है इसलिए कवि नहीं चाहता कि वह बाहर आये। मनुष्य वनमानुषी संस्कारों से ग्रस्त होकर ही दुख उठाता है। अतः इन संस्कारों से मुक्ति आवश्यक है किन्तु कथनी और करनी में जब तक अभेद नहीं होगा तब तक यह संभव नहीं है। मुक्तिबोध को दुख इस बात का है कि आलोचक, विचारक, कविगण, मंत्री, उद्योगपति, विद्वान आदि के सिद्धान्त और व्यवहार में भी एकरूपता नहीं है।

इसलिए दिन में तो वे अच्छे भले, सफेदपोश नजर आते हैं लेकिन रात में वे सब भूत पिशाच दिखाई देते हैं। कवि उनका असली चेहरा दिखाकर उन्हें नंगा कर देता है—

“भीतर का राक्षसी स्वार्थ अब

सड़क पर आया है

छुपे हुए उद्देश्य यहाँ निखर आये हैं।”

मनुष्यता के पक्ष में खड़े होने वाले मुक्तिबोध को स्वार्थ, शोषण, आतंक, अत्याचार, भ्रष्टाचार, लूट, हत्या, मिथ्याचरण, असत्य, अपमान आदि मानवता के आँचल पर कालिख सदृश लगते हैं। इन्हीं से भय, संत्रास, तनाव और बेगानापन बढ़ता है। मानवीय संबंधों की ऊष्मा छीजती है और अपनत्व, स्नेह-सौख्य में रीतापन आता है।

मुक्तिबोध ने लिखा है— “मानव संबंधों की इस गिरावट के जमाने में मेरी कविता की सारी इमेजरी-बिंब-माला विकसित हुई। उसमें घने और काले, लाल और नीले, जामुनी और बैंगनी रंग हैं। यह इमेजरी कैसे पैदा हुई, यह कहना मुश्किल है। केवल इतना कहना चाहूँगा कि मनुष्य संबंधों की भीषण गिरावट के बीच, मनुष्य दीप्ति के जो प्रकाशमान दृश्य मेरे सामने आये, उन्हीं के सहारे मेरा जीवन आगे बढ़ता रहा।” (तार सप्तक के दूसरे संस्करण के लिए लिखित किन्तु अप्रकाशित वक्तव्य)। इसमें दो बातें विशेष महत्त्व की हैं— “मनुष्य संबंधों की भीषण गिरावट और मनुष्य दीप्ति के प्रकाशमान दृश्य। इनमें पहली का कारण जिन्दगी और समाज में व्याप्त दुख, अभाव, तनाव, घुटन, स्वार्थ, षडयन्त्र, अनाचार, कदाचार तथा मिथ्या व्यवहार आदि हैं। इन्हीं की मौजूदगी से मुक्तिबोध की कविता में साँवला रंग उभरता है जो सघन होकर काले स्याह अथवा अन्धेरे में बदल जाता है। दूसरी प्रकाशोन्मुख आस्था-आकांक्षा की सूचक है जिससे अभिशापित, तापित जिन्दगी और त्रासद स्थितियों से उबरने का रास्ता दिखाई देता है। इस तरह मुक्तिबोध की कविताओं में अंधेरा है तो प्रकाश भी है। काला रंग है तो लाल रंग भी है। समस्याओं का घटाघोष है तो समाधान का मार्ग भी है।”

मानव-मुक्ति मुक्तिबोध की काव्य-चेतना का सर्वाधिक अनिवार्य लक्ष्य है। वे मनुष्य ही हर तरह से मुक्ति चाहते हैं इसीलिए यह जानने के इच्छुक हैं कि—

“मेरे सभ्य नगरों और ग्रामों में
सभी मानव
सुखी, सुन्दर शोषण मुक्त
कब होंगे”

यह प्रश्न इसलिए कि मुक्ति आसान नहीं है और मुक्ति के रास्ते अकेले में मिलते भी नहीं हैं। इसके लिए हथेली पर विवेक की अग्नि प्रज्ज्वलित करनी पड़ती है तभी जिन्दगी के दलदल से कमल तोड़कर लाना संभव हो पाता है। मुक्तिकामी, प्रगतिशील चेतना का वाहक कवि जो कमल तोड़कर लाया है वह सामान्य कमल नहीं अपितु ज्वलंत सरसिज है जिसमें विवेक की अग्नि है—

“मेरे इस साँवले चेहरे पर कीचड़ के धब्बे हैं, दाग हैं
और इस फैली हुई हथेली पर जलती हुई आग है।
अग्नि विवेक की
नहीं नहीं वह तो ज्वलंत सरसिज
जिन्दगी के दलदल कीचड़ में धँसकर
वक्ष तक पानी में फँसकर
मैं वह कमल तोड़ लाया हूँ।”

मुक्तिबोध की कविताओं में ‘चिनगारी’, ‘स्वर्ण स्फुल्लिंग’, ‘अंगारी मुस्कराहट’, ‘जिन्दा बिजली’, ‘शबनमी चमक’ आदि शब्दों की बार-बार आवृत्ति कवि के भीतर की अग्निधर्मिता को प्रकट करती है। उसी के आलोक में वह जिन्दगी की सच्चाइयों का अन्वेषण भी करता है और अन्धेरे के नाश के लिए प्रयत्नशील भी होता है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि मुक्तिबोध का कवि व्यक्तित्वान्तरण द्वारा सामान्य जन से तादात्म्य स्थापित करता है। इसलिए उसकी अंगारी चेतना आम आदमी के भीतर की अंगारी चेतना है जो मुक्ति के पथ पर अग्रगामी होकर क्रांतिकारी बनती है। मुक्ति का कोई भी पक्ष संघर्ष रहित नहीं हो सकता इसलिए कवि की अंगारी चेतना संघर्ष का रास्ता दिखाती है। उसका आत्म-संघर्ष वर्ग-संघर्ष का रूप ले लेता है। भीतर का संघर्ष बाहर के संघर्ष से सम्बद्ध हो जाता है। तभी तो ‘अंधेरे में’ का काव्य-नायक सोचता है—

“चक्र से चक्र लगा हुआ है
जितना ही तीव्र है द्वन्द्व क्रियाओं घटनाओं का
बाहरी दुनिया में

उतनी ही तेजी से भीतरी दुनिया में
चलता है द्वन्द्व कि
फिक्र से फिक्र लगी हुई है।” (मुक्तिबोध की कविताएँ,
पृ. सं. 39)

कोई भी साहित्य स्वयं क्रांति नहीं कर सकता लेकिन क्रांति की भूमिका तैयार कर सकता है। वह समाज को स्वयं नहीं बदल सकता किन्तु बदलाव लाने में मददगार बन सकता है। मुक्तिबोध की कविता भी सीधे-सीधे समाज को बदलने का कार्य नहीं करती लेकिन जो है उससे बेहतर की आकांक्षा में पूरी दुनिया साफ करने के लिए मेहतर की माँग अवश्य करती है—

“इसलिए कि जो है उससे बेहतर चाहिए
पूरी दुनिया साफ करने के लिए मेहतर चाहिए।”

इतना ही नहीं वह शोषणविहीन समाज की स्थापना के लिए प्रतिक्रियावादी ताकतों के खिलाफ जवाबी गदर बनती है। दीन-हीन, तापित-शापित मानव की ‘वेदना का स्रोत संगत पूर्ण निष्कर्षों तलक’ पहुँचाने के लिए अपनी प्रतिबद्धता दर्शाती है। मनुष्य को उसके संकट, बेगानगी और विलगाव का बोध, कराकर उसकी मुक्ति, परिष्कार और परिमार्जन का मार्ग सुझाती है। ‘भूखे चूल्हे के भोले अंगारों’ में वह जीवन का ‘सच’ तलाशती है। कवि जानता है कि ‘सत्य’ अन्धकार में नहीं प्रकाश में मिलता है और साहित्य में प्रकाश ही प्रकाश है। इसलिए वह सत्य ढूँढ़ने की प्रक्रिया के बारे में लिखता है— “साहित्य मनुष्य के आंशिक साक्षात्कारों के बिम्बों की एक मालिका तैयार करता है.....साहित्य में प्रकाश ही प्रकाश है किन्तु हमें प्रकाश में सत्यों को ढूँढ़ना है।” (रचनावली भाग चार, पृष्ठ संख्या 72)। संभवतः इसलिए ‘चाहिए मुझे मेरा असंग बबूलपन’ कविता में वह ‘गलत के खिलाफ नित सही की तलाश’ में इतना उलझ जाता है कि जहर नहीं, लिखने की स्याही पीने लगता है तथा सत्य को ‘बहुत भव्य रम्य विशाल मृदु’ कहकर संबोधित करता है। कवि जिस प्रकाश की बात कहता है वह उसके अन्तः सत्य का प्रकाश है और इसकी अभिव्यंजना के लिए वह जिन शब्दों का प्रयोग करता है वे हैं— अग्नि सरोवर, अंगारी धूप, स्वर्ण स्फुल्लिंग, अंगारचंद, चिनगारी, जहरीली आग, रत्न विवर, विद्युन्मय, तेजस,

किरण, ज्ञान, ओज आदि। वह प्रकाश युक्त ज्ञान को मणि कहता है- 'दुर्दान्त ज्ञान का मणि अशोक'।

मुक्तिबोध की कविताओं में 'सत्य' शिशु के प्रतीक के रूप में आया है। वे जिस सत्य-शिशु को अपने हृदय से चिपकाये रहे उसके जन्म की घोषणा उन्होंने 'तार सप्तक' में ही कर दी थी-

“वह ज्ञान-लिप्सा-क्षितिज-सपना
रे वही तुझमें अनेकों स्वप्न देगा
औ, अनेकों सत्य के शिशु
नव-हृदय के गर्भ में द्रुत
आ चलेंगे।” (रचनावली भाग-1, पृष्ठ सं. 111)।

'ओ काव्यात्मन फणिधर' कविता में वह शिशु जोर-शोर के साथ रोता हुआ चित्रित है-

“किसी ने आत्मज सद्योजात
वहाँ लाकर रक्खा, छोड़ा त्यागा
शिशु रोता है वह जोर-शोर के साथ।”

कवि को विश्वास है कि-

“श्रम-गरिमा का पी दूध
सत्य नवजात
विकसता जायेगा।”

किसी के अनुसार यह शिशु दायित्व बोध का प्रतीक है तो किसी के अनुसार क्रांति का। श्रम-गरिमा का दूध पीने के कारण उसका संबंध श्रमिक वर्ग से अवश्य जुड़ता है। मुक्तिबोध ने जीवन के आत्मज सत्य को अपना सहचर बनाकर, उसकी आस्थामयी पुकार सुनकर सामान्य जन के उद्धार हेतु जिस क्रांति-पथ का वरण किया वह निराला की क्रांति चेतना से कम गौरवशाली नहीं है बल्कि उनका आक्रोश, विद्रोह और सामाजिक दृष्टि का विस्तार निराला से भी कहीं अधिक दीप्तिमान और प्रखर है। 'डूबता चाँद कब डूबेगा' कविता में मुक्तिबोध ने कबीर को याद किया है-

“बुन रहे मस्त मौला कबीर
जन-जन के हित नूतन चादर।”

'भविष्य धारा' कविता में उन्होंने उनकी साखी 'जो घर जाणे आपणा चले हमारे साथ' को नया अर्थ-सन्दर्भ दिया है-

“तुम बाजार में खड़े/
स्वयं जलती मशाल
औं पुकारते
जिसे फूँकना हो अपना घर
चले हमारे साथ।”

इस तरह कबीर को कविताओं में याद करना अकारण नहीं हो सकता बल्कि कहीं न कहीं उनकी क्रांतिदर्शी भास्वरता में कवि की कामना अपनी क्रांति-ज्वाला को तीव्र करने की रही होगी।

'काव्य- एक सांस्कृतिक प्रक्रिया' शीर्षक लेख में मुक्तिबोध ने लिखा है- “नई कविता में आवेश के पंख काट दिये गये, कल्पना को अपने पिंजरे में पालकर रखा गया।.... व्यक्ति-मन की बात करके आत्मा की महान, दुर्दम, विप्लवकारिणी ज्ञानमूलक शक्ति को भुला दिया गया।” जाहिर है मुक्तिबोध की कविताओं में विषमतामूलक सामाजिक व्यवस्था और पूँजीवादी शोषण-तंत्र के विरुद्ध गहरा क्षोभ है। धनपशुओं की पाशविकता, छल-छद्म तथा षड्यंत्र के प्रति प्रखर आवेश है। जन-जन की छाती पर बैठकर शासन के चाकू से विद्रोहिणी बुद्धि की त्रिकालदर्शी आँखों को काटकर निकाल लेने की आकांक्षा वाली पूँजीवादी शक्तियों के प्रति तीव्र आक्रोश है। शोषण व्यवस्था को उखाड़ फेंकने का आह्वान है-

“शोषण की गहन व्यवस्था के ये हाथ-पैर औ बुद्धि-उदर
ये लम्बोदर ये स्वार्थशास्त्र की बुद्धि प्रखर
इनको उखाड़
दे उन्हें जोर से फेंक आज
....तोड़ दे द्वार सौं रुद्ध किये
जो खड़ी शिलायें हैं अन्धी
हे महाश्रमिक/ जनक्रांति रूप।”

कहना न होगा कि यही क्षोभ, आवेश, आक्रोश तथा विप्लवकारिणी प्रवृत्ति मुक्तिबोध की कविता को नई कविता से किंचित अलग पहचान दिलाती है और यह विश्वास भी कि मुक्ति के मन को कोई छल नहीं सकता। भले ही साहित्यिक चुप और कविजन निर्वाक हो जाय, चिंतक, शिल्पकार, नर्तक मौन साध लें लेकिन जनता के अदम्य साहस और शक्ति के आगे पूँजीवादी शोषण-तंत्र को झुकना

ही होगा- 'मुक्तिकामी पैरों की मोच की चीख' कविता का यह सपना इसी बात की गवाही देता है-

“सपने से आते हैं कि किसी दिन
पुराने मुहल्ले सब होंगे साफ
भाप होकर काले दाग धरती के सब मिट जायेंगे
मानव धुकधुकी में
सुनहले दिवस का रक्त खिलखिलायेगा।”
इसी उम्मीद में यह लगता भी है कि-
“काली पसली शोषक युग की
सत्ता की छाती पर बैठी
गला दबाकर जनता जग की।”

किन्तु यह इतना आसान भी नहीं है। इसके लिए क्रांति का टैक्टर चलाना जरूरी है-

“इतिहासिक टैक्टर ओ
छाती पर चल जाओ
सौ करोड़ एकड़ की
हेकड़ जमीन पर

निज चेतन मृद कठोर फल लाओ
इतिहासिक टैक्टर ओ
परिवर्तन सत्वर हो।”

मुक्तिबोध ने 'हर चीज जब अपनी' शीर्षक कविता में
“बराबरी का हक, बराबरी का दावा
नहीं तो मुठभेड़ और धावा।”

का जो नारा दिया है वही सत्वर परिवर्तन का सबल आधार है। क्रांति-पथ का भास्वर पाथेय है। विषम और संतप्त जीवन के लिए दुर्निवार औषधि है किन्तु इसे लाने के लिए सामूहिकता और एकाग्रता की आवश्यकता है क्योंकि मुक्ति के रास्ते अकेले में नहीं मिलते तथा जीवन मर-मर कर प्राप्त करना होता है। जिन्दगी का गुलाब शरीर की राख पर ही खिला है-

“जमीन में गड़ी हुई देहों की खाक से
शरीर की मिट्टी से, धूल से
खिलेंगे गुलाबी फूल।”

मुक्तिबोध की अंगारी चेतना इसी क्रांति-पथ का निर्माण करती है।

संपर्क :

जे. जी-167, टाइप-4, जंगलीघाट, पोर्ट ब्लेयर
अण्डमान- 744103, मो. : 9434286189

‘अंधेरे में’ के रचनाकार मुक्तिबोध की पुण्यस्मृति के पचासवें वर्ष पर ‘मुक्तांचल’ का अगला अंक (अक्टूबर-दिसम्बर, 2014) ‘मुक्तिबोध विशेषांक’ होगा। अतः सभी सुधी लेखकों एवं शोधार्थियों से अनुरोध है कि वे अपने आलेख, गवेषणा, अनुशीलन, विमर्श, पुनर्पाठ एवं अंतःपाठ आदि शीघ्र प्रेषित करें।

रामदरश मिश्र का उत्तरवर्ती कवि-कर्म

पाण्डेय शशिभूषण 'शीतांशु'

सैद्धांतिक एवं सर्जनात्मक आलोचक

रामदरश मिश्र मानवीयता के कवि हैं, जीवन का राग गाने वाले कवि हैं, प्रकृति और परिवेश के कवि हैं, स्थल-तत्त्व की सटीक पहचान के कवि हैं, गाँव के कवि हैं, तो नगर-महानगर के भी कवि हैं, अपने अतीत-व्यतीत के प्रति 'नौस्टेलिजक' कवि हैं, तो अपने समकाल की धड़कन और वहाँ होने वाले परिवर्तन के भी पारखी कवि हैं। वे महानायकों के नहीं, बल्कि अनेक जीवन्त पात्रों के और अपने आसपास के आम लोगों की सार्थक उपस्थिति के कवि हैं। वे संवेदना, भाव-विभाव और पर्यवेक्षण के कवि हैं, जिसका विस्तार परिवार समाज से लेकर अर्थतंत्र और राजनीति तक है। वे अभिलेखीकरण के कवि हैं, तो कलाकरण के भी कवि हैं। वे अनेक विधाओं के समर्थ साहित्यकार होने के बावजूद अपनी प्रकृति और प्रवृत्ति से मूलतः कवि हैं। उनकी कविता की मूलभूत पहचान उसकी 'कविताई' है, उसका कवित्व है, जो किसी भी कविता के 'होने' की बुनियादी विशेषता है।

'आग ही हँसी' उनके उत्तर कवि-जीवन की नवीनतम कृति है। पहले की तरह ही यह उनकी कवि-सृष्टि और कवि-दृष्टि दोनों की दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। प्रायः यह माना जाता है कि कविता सरस्वती की जवानी है और दर्शन उसका बुढ़ापा। पर रामदरश जी के उत्तर कवि-जीवन की कविताएँ एक साथ सरस्वती की जवानी और उसका बुढ़ापा यानी कविता और दर्शन- दोनों के सुखद संयोग का साक्ष्य प्रस्तुत करती हैं।

उनकी उत्तरवर्ती कविता में कवित्व और विचार, कवि-सृष्टि और कवि-दृष्टि दोनों की संश्लिष्ट सत्ता-महत्ता है। कवि की दृष्टि कहीं भी उसकी सृष्टि पर आरोपित नहीं है, बल्कि यह दृष्टि-उन्मेष उसकी सृष्टि से ही सहज रूप में जन्म लेता है। चूल्हे की आग आग नहीं लगाती, इन्सानियत को नहीं जलाती, बल्कि इन्सान के पेट की आग को बुझाती है और आदमी की जीभ को तृप्ति देकर उसके अधरों पर हँसी बन जाती है। पर ठीक इसके विपरीत तथाकथित अभिजात वर्ग के 'श्रीमान्' जैसे विरुद्ध से सम्बोधित होने वालों की शीतल, शालीन हँसी धीमे-धीमे आग उठाती महाज्वाला बन जाती है और वह मानवीयता की सभी दिशाओं को अपनी लपेट में लेती है। पर इस हँसी के राज को, इसकी गहन संरचना को सीधे-सादे लोग नहीं समझ पाते हैं। वे मायावी की माया की बाहरी संरचना तक ही उलझ कर अटक जाते हैं और समझते हैं कि आग जहाँ-कहीं भी लगी है वह चूल्हे की आग से ही लगी और लगायी गई है। वह नहीं समझ पाते हैं कि यह प्रसरणशील आग मायावी की शीतल हँसी से लगी है, जो हृदय में, समाज में, समुदाय में, निम्नवर्गीय और निम्नवर्णीय लोगों के घरों में बड़ी शालीनता से लगा दी गयी है। चूल्हे की आग का ताप जहाँ मनुष्य और मनुष्यता को जीवित रखता है, वहाँ सभ्य, मायावी मनुष्य की शीतल हँसी की तीली का ताप मनुष्य और मनुष्यता को जलाकर क्षार कर देता है। प्रकृत आग की हँसी जहाँ संजीवनी बनती है, जीवनोष्मा बनती है: वहीं शीतल और शालीन हँसी की आग विष और हलाहल बन जाती है।

आग और रोटी का यह सन्दर्भ उनकी 'ढाबा-1' कविता में भी आता है। वहाँ

“निकलने लगती हैं लाल-लाल रोटियाँ

टूटे बेंच पर बैठ जाते हैं श्रम के फटेहाल बेटे

और थोड़े पैसों में पेट भर कर
चले जाते हैं अपने-अपने काम पर।”

इस तरह मिश्र जी के यहाँ उनकी वैचारिक स्तर पर औपनिषदिक ‘इदमन्नं ब्रह्म’ की मान्यता परिपोषित होती है। उनकी कुछ और कविताओं में भी ‘अन्न ही ब्रह्म है’ की मान्यता का गान मिलता है। उनकी ‘देवता’ कविता में इस ‘परासन्देश’ (Hypogram) को स्पष्ट पढ़ा-समझा जा सकता है—

“और ज्यों ही रसोई घर में पहुँचा
चकले से आवाज आयी। अरे, तुम कहाँ चले गये थे।
मैं तो यहाँ हूँ।”

रामदरश जी की वैचारिक दृष्टि महर्षि व्यास की ‘पाणिवादी’ दृष्टि है। उनकी कविता में महाभारत में निरूपित ‘पाणिवाद’ के दर्शन होते हैं। ये कविताएँ श्रम का गान गाती हैं और हाथों की कर्मण्यता के महत्त्व को प्रस्थापित करती हैं—

“जाओ, जाओ। हमें क्या लेना बाबाओं-साबाओं से।
हमारे दो हाथ ही हमारे देवता हैं
वे प्रसन्न रहेंगे, तो सलामत रहेंगे हम।”

मिश्र जी अपनी कविताओं में पूरी तरह पार्थिव हैं। अन्न और श्रम का गान गाने के साथ-साथ वे वैचारिक स्तर पर धार्मिक कर्मकाण्डों के विरुद्ध भी हैं। अपनी ‘पूजा-भवन’ कविता में वे स्वयं देवता से कहलाते हैं—

“पूजा भवनों में मैं नहीं
मेरे नाम का पत्थर रहता है
उसे पूजने वाले पुजारी नहीं होते
मेरे नाम के व्यापारी होते हैं
वे मेरे पास श्रद्धा से अपने को देने नहीं
क्या-क्या तो माँगने आते हैं/ इनके उपहारों में
इनकी पाप-मुक्ति की शर्त छिपी होती है
अरे, मैं तो सदा से
उन्हीं हृदयों के सादे घरों में निवास करता हूँ
जिनमें त्याग की रोशनी होती है
भोग का अन्धकार नहीं
जिनमें प्यार का खुला आकाश हँसता है
जिनमें ऊँच-नीच, मेरे-तेरे की दीवार नहीं होती।”

इसी तरह घर की बाहरी दीवार में अकस्मात् उग आये पीपल की जब पूजा शुरू हो जाती है, पुजारियों का मेला लगना आरंभ हो जाता है और दीवार पीपल की जड़ से फैलते जाने के कारण खोखली होनी शुरू हो जाती है; तब एक दिन घर वाला, जो कविता का वाचक है, उस पीपल के वृक्ष को निर्मूल करने के लिए कुल्हाड़ी उठा लेता है और कहता है—

“क्षमा करना देवता, यह जगह आपकी नहीं थी
लोग भयभीत आँखों से मुझे देख रहे थे—। अरे क्या कर रहा है यह अधार्मिक आदमी!”

इसी तरह उनकी एक कविता का वाचक कहता है—

“लेकिन मैं अपने इस पगले मन का क्या करूँ
जो औलोकिक के प्रति बनायी गयी
मान्यताओं में आस्था ही नहीं रखता।”

वह हनुमान मंदिर में जाकर हनुमान की पूजा तो नहीं कर सकता, पर हनुमान के शील और शौर्य से प्रभावित होकर आत्मनिर्माण की इच्छा को वाणी अवश्य दे देता है—

“मैं तो चाहता हूँ कि
इनकी छोटी-सी ज्योति
मेरे भीतर उतर आये मेरे प्रयत्नों से
ताकि मैं स्वयं लड़ सकूँ
भूत-पिशाचों और निशाचरों से।”

इस तरह वह अपनी कविताओं में मनुष्य, मनुष्यता और जीवन-जगत् की प्रतिष्ठा करता दीखता है।

मिश्र जी की उत्तरवर्ती कविताओं की बड़ी विशेषता किसी आत्मीय डायरी के रूप में उसे लिखे जाने की है। कहना होगा कि रामदरश जी हिन्दी में ‘डायरी कविता’ के प्रवर्तक हैं। ऐसी कविता की बड़ी विशेषता उसका अभिधा शक्ति से सम्पन्न होना है। यह वही ‘अभिधा’ है, जिसे महिमभट्ट ने अपनी ‘व्यक्तिविवेक’ पुस्तक में उत्कृष्ट शक्ति मानते हुए ‘इषु (बाण)-व्यापार’ कहा था। बाण का यह व्यापार एक साथ जैसे वर्म (कवच)– भेदन, मर्म भेदन और प्राण-हरण कर लेता है, उसी तरह अभिधा ही लक्षणा और व्यंजना का क्रिया-व्यापार सम्पन्न करती है। उनकी एक कविता है— ‘डायरी’। यद्यपि उनकी यह कविता एक विधा-विशेष पर लिखी गई है, पर इससे उनकी कविता

का मिजाज अच्छी तरह स्पष्ट हो जाता है' यहाँ उनका अभिव्यक्ति-तंत्र डायरीनुमा है। उनकी उत्तरवर्ती कविताएँ आत्मीयतापरक और प्रसादात्मक हैं। यहाँ यदि कहीं अर्थ-गूँज निकलती भी है और प्रतीयमानता परिलक्षित होती है, तो वह शब्द, पद और वाक्य के स्तर पर केन्द्रित नहीं होकर प्रोक्ति (discourse) के स्तर पर केन्द्रित होती है। जैसे डायरी लिखने वाला अपनी डायरी में अपने नंगे सत्य के साथ सीधे उतरता है, वैसे ही मिश्र जी अपनी कविताओं में उतरता हैं। जैसे वे अपनी डायरी में एक ठेठ आदमी दीखते हैं-

“गिरता हुआ, उठता हुआ

टूटता हुआ

बनता हुआ

हँसी में आँसू और आँसू में हँसी छिपाये हुए”

वैसे ही वे अपनी कविताओं में भी प्रतिबिम्बित-परिलक्षित होते हैं। उनकी डायरी कहती है-

“बहुत कुछ दिया है

प्रकृति और मनुष्य की न जाने कितनी छवियाँ

अपने में भरकर मुझमें व्याप्त हुए हों

में पूनो की चाँदनी-सी डहडहा रही हूँ

प्रभात की जीवन-रश्मियों में नहा रही हूँ

मुझमें

पावस बरस रहा है- झर-झर-झर-झर

वसन्त की मदमस्त हवाएँ फाग गा रही हैं

कितने-कितने उत्सव मस्ती में हँस रहे हैं

कितने-कितने रंगों के पल-पाँखी उड़ रहे हैं

कितने-कितने जाने-अनजाने लोग आ-जा रहे हैं

में उल्लसित होते-होते थरथराने लगती हूँ

पीड़ितों और बेवसों के लिए तुम्हारी संवेदना से

लेकिन उस संवेदना से फूटती हुई ज्योति

मुझमें एक उत्साह भर देती है

लगता है कि दर्द में से एक चाह

चाह में से एक राह फूट रही है

और एक दृष्टि-आलोक उसे दिशा-दिशा दिखा रहे हैं”।

ऐसे में क्या उनकी कविताओं के पाठक या आलोचक के लिए यह पूछना शेष रह जाता है कि क्या ये सब उनकी

कविताओं के उनके द्वारा संवेदित विषय या प्रतिपाद्य नहीं है; साथ ही उनकी कविताओं में न तो भारी-भारी फलसफों का बोझ है और न ही गरिष्ठ, गरिष्ठतर सिद्धान्तों का निरूपण। इस ‘डायरी’ कविता में डायरी उनके साथ होने का दावा करती है, पर मिश्र जी अपनी कविता के साथ भी ‘होने’ और ‘बहने’ की अभिव्यक्ति करते हैं। उनकी कविता उनके साथ चल रही है और स्वयं मिश्र जी भी अपनी कविता के साथ-साथ। मिश्र जी अपनी कविता को अपनी ‘भविता’ (Beingness) मानते हैं। पाश्चात्य विचारक मार्टिन हाइडेगर ने अपने ‘होने’ के विषय में, अपनी ‘भविता’ के विषय में सोचा था। मिश्र जी के लिए “कविता तो जीवन का प्यार है।

उसके बिना तो लगता है-

जीवन खाली समय रह गया है।”

और अन्ततः उनकी यह आत्मस्वीकृति तो हाइडेगर के द्वारा उठाये गये प्रश्नों का जैसे उत्तर ही दे देती है कि “मेरे लिए तो वे (कविताएँ) मेरे होने की सार्थकता हैं।” इस तरह उनकी डायरी का मिजाज मूलतः उनकी कविता का ही मिजाज सिद्ध होता है और वे अपने काव्य-विकास में, उसकी ‘ग्रोथ’ में ‘डायरी कविता’ के प्रवर्तक सिद्ध होते हैं।

रामदरश जी आरंभ से ही समसामयिक समस्याओं को अपने संवेदित चित्त में अनुभूत करते रहे हैं। उनकी एक कविता बाजारवाद पर है-

“नया बाजार थोड़ी और जगह घेर लेता है

और एक दिन उन्हें लगता है कि

बाजार उनके घर में है और वे बाजार में।”

यहाँ उन्हें स्थितियों की पारदर्शी समझ प्राप्त होती है-

“धीरे-धीरे भेद खुलता गया कि

विश्वग्राम का मोहक महल

ग्राम-संवेदना पर नहीं। बाजारवाद पर खड़ा है।”

और फिर

“उनके लिए भोग ही प्यार बन गया है

देश तो देश

स्वयं अपना घर भी बाजार बन गया है।”

इसी तरह वह अपनी कविता में जनता के प्रतिनिधि की सच्चाई को भी मुखर करते हैं-

“हम जानते हैं कि आप हमारे लिए क्या करते हैं
आप दिन को रखवाले बने रहते हैं
और रात में मजे से हमारा खेत चरते हैं।”

इन दिनों साहित्य में पर्यावरण-कविता और पर्यावरण-परक आलोचना (Eco Criticism) की चर्चा है। आज से ठीक 35-36 वर्ष पूर्व 1978 में विलियम र्यूकर्ट (William Reukert) ने पहली बार साहित्य में इस दृष्टि से बात की थी। रामदरश जी की उत्तरवर्ती कविताओं में कुछ कविताएँ पर्यावरण-कविता (Eco-poetry) भी हैं। वे मनुष्य और पर्यावरण की पारस्परिक सहभागिता को बिम्बित और गूँजित-अनुगूँजित करने वाली हैं। उनकी ‘धूप’ तथा ‘पेड़ और मैं’ इस कोटि की उत्कृष्ट कविताएँ हैं, जिनमें प्रकृति और मानव की सहभागिता के साथ-साथ प्रकृति की विद्यमानता को अनिवार्य माना गया है। यहाँ न तो प्रकृति का शोषण है और न ही उसका उन्मूलन, बल्कि पर्यावरण हमारे बीच यहाँ एक अनिवार्य विद्यमानता है।

उनके ‘आग की हँसी’ संग्रह में चार कविताएँ कविता पर ही रची गयी हैं- 1. कविता के साथ 2. मुझे पता है, 3. कविता मनुष्य का राग है और 4. कविता संवेदनशील बनाती है। इनमें आरम्भिक दो कविताएँ ऐसी हैं, जिनमें मिश्र जी को कविता स्वतः जीवन लगती है-

“मैं लाचार हूँ अपनी ठेठ गँवई समझ से
जो कविता को जीवन की तरह पढ़ती है।”

उनकी कविताओं में “दूर तक फैली खुरदुरी मिट्टी का दर्द है। हवा का बहाव है/ जल की पारदर्शी गहराई है/ आग की तपिश है/ और आकाश का प्रसन्न विस्तार है। पर इसके विपरीत कविता पर लिखी उनकी दो परवर्ती कविताएँ कविता और कवि से जीवन की असम्पृक्ति को, उसकी मूल्यविरोधिता को दर्शाती हैं। यहाँ कविता को जीवन और मनुष्यता का राग मानने वाला ही अपने समाज और मानवीयता से पूरी तरह कटा हुआ है जिसके कारण लोगों को यह सोचने के लिए विवश होना पड़ता है कि “हाय! हम तो इस आदमी की वाक्पटुता से छल गये।”

रामदरश जी स्वयं क्रियान्वित (Active) यानी चालू जीवनमूल्य के ही कवि नहीं हैं, अपितु वे आकल्पित (Conceived Value) यानी अपेक्षित जीवनमूल्य के भी

कवि हैं। उनकी ‘शोहरत’ कविता में उनके इस जीवन-मूल्य का निरूपण हुआ है। इस कविता में ‘शोहरत’ स्वयं चलकर कवि के पास आती है और वह कवि से आज के युग में शोहरत पाने के लिए चालू करणीय करने का अपना आग्रह करती है। पर कवि उसके इन आग्रहों को नहीं स्वीकारता है। उनका आग्रह है कि

“नहीं, मैं बैठने नहीं आयी हूँ
तुमसे यह कहने आयी हूँ कि
तुम घर के अन्दर क्यों घुसे रहते हो
मुझे पाने के लिए मेरे पीछे दौड़ना पड़ता है
यहाँ-वहाँ न जाने कहाँ-कहाँ
देख नहीं रहे हो, दौड़ मची हुई है।”

पर कवि का मूल्य-विवेक इसे मुस्कुरा कर अस्वीकार कर देता है-

“तो, जाओ न उनके साथ, जो दौड़ मचाये हुए हैं
मुझे तो तुम जितना मिल चुकी हो, बहुत है
और हर बार तो तुम स्वयं चलकर मेरे घर आयी हो।”

अन्त में जब परिवार की बच्ची अपने दादा से पूछती है, जिज्ञासा करती है कि वह कौन थी, तो उसे उत्तर मिलता है कि

“बेटा, एक थी, जो साथ लग जाती है तो
आदमी का खुले रूप में
खाना-पीना, चलना-फिरना, रोना-हँसना मुहाल हो जाता है

वह अपने घर में भी

अपने घर का नहीं रह पाता।”

और यह उत्तर पाकर बच्ची सोचती है कि “आखिर यह कौन-सी बीमारी है।”

रामदरश जी गहरी संवेदना और सर्जना के कवि रहे हैं। इस संवेदनानुभूति से उनकी काव्य-सृष्टि कई प्रकार की ‘नौस्टेलिजक’ अभिव्यक्ति को जन्म देती है। ‘निराला’ को इसी संवेदनानुभूति के वशीभूत कभी यह लिखना पड़ा था कि “अब नहीं आती पुलिन पर प्रियतमा।” पर रामदरश जी अपनी उत्तरवर्ती कविता में इसकी जगह यह कहते हैं कि “अब नहीं आती (हमारी) चिट्ठियाँ।” और इसकी कचोट कवि को विकल कर देती है, क्योंकि

“चिट्ठी कागज का टुकड़ा न रहकर
आदमी का व्यक्तित्व बन जाती है
चिट्ठियाँ एक बार बोलकर चुप नहीं हो जातीं
वे रह-रह कर बतियाती हैं
सोयी रहती हैं, फिर जाग जाती हैं
समय बीतने के साथ गहराती जाती हैं। उनके होने की
महक! वे आइना बन जाती हैं
जिसमें झाँक-झाँक कर
वर्तमान अपना कल का चेहरा देखता है
और समय समय न रहकर संवेदना का प्रवाह बन
जाता है।”

रामदरश जी के यहाँ यह ‘नौस्टेल्लिया’ शुद्ध समय के
सन्दर्भ में भी रेखांकनीय है। अपने गुजरे हुए समय और
अपने द्वारा गुजारे गये समय के विषय में वे लिखते हैं-

“चुप बैठा रहता हूँ मैं अनभीगा-सा
सामने समय का जल बहता रहता है
हैं चहल-पहल तो कितनी दायें-बायें
पर भीतर सन्नाटा दहता रहता है
लम्बी यात्राओं के कुछ मीठे सपने
मेरी तनहाई में आते-जाते हैं।”

यह ‘नौस्टेल्लिया’ उनके यहाँ कालचक्र में घूमने
वाले मौसम के प्रति भी है, विशेष रूप में फागुन और शरद
को लेकर! क्वार के महीने के प्रति उनकी अभिव्यक्ति
पठनीय है-

“मैंने तुम्हें कितना चाहा है शरद
तुम तो मेरे भीतर बसे हो
न जाने कितनी छवियों और महकों के साथ
भादों की गहर अँधेरी रात से गुजरते हुए
मुझे क्वार की उत्कट प्रतीक्षा रहती है।”

रामदरश जी के यहाँ यह ‘नौस्टेल्लिया’ स्थल-बोध
पर भी आधारित है। उनका एक उद्गार देखें-

“सारा-कुछ समेट कर उस नगरी का यहाँ चला आया
लेकिन लगता है रह-रह मैं स्वयं वहाँ पर छूट गया।”
पर यहीं उनकी स्थल-चेतना से उनके सम्बन्धों की, नाते-
रिश्तों की चेतना भी जुड़ी हुई है-

“उनकी आँखों में भर आता है सुदूर का पहाड़

पहाड़ पर बैठा गाँव
गाँव में टूटा घर
घर में बैठे बूढ़े माँ-बाप
जवान बीबी, नादान बच्चे
इन रूपों में उनकी तस्वीरें तैरने लगती हैं
मन भीग जाता है ममता-भरी हँसी से
लगता है पहाड़ उन्हें बुला रहा है
घर आवाज़ में।”

साथ ही

“जिस गाँव को मैंने जीया है
वह तो संगीत बनकर थरथराया करता है मेरी चेतना में
टूटा-फूटा ही सही, वह घर था
जिसमें बहती थी नदी की तरह
माँ की ममता
झूमता था किरणों की तरह पिता का आशीष
खेलता था धूप की तरह भाई-बहनों का साहचर्य।”

उनके यहाँ यह ‘नौस्टेल्लिया’ अपनी आसन्न मुक्ति
की स्थिति में और भी गहराती दीखती है। यहाँ प्रतीक्षा है,
एक अत्यन्त आत्मीय पात्र के आने की। कवि लिखता है-

“दो दिन पहले खबर मिली
कि वह आ रहा है दस दिन बाद
एकाएक सहज मन बावरा हो गया
वह आ रहा है, वह आ रहा है
अन्तर में एक उन्मन राग बजने लगा
एक-एक पल दिन-सा भारी लगने लगा
मन कहने लगा-

बीच के कम्बख्त दिन उड़ क्यों नहीं जाते!”

अगर ये बीच के दिन उड़ जाते, मिट जाते और मिलना
तत्काल संभव हो पाता, तो इस ‘नौस्टेल्लिया’ से मुक्ति
मिल जाती। पर ऐसा हो नहीं पाता!

मिश्र जी की एक कविता है ‘चौराहा’। यह एक अत्यन्त
मार्मिक और प्रभावी कविता है। यहाँ ‘फुटपाथ’ है, नुक्कड़
है, ढाबा है, रेहड़ी है, रिक्शे हैं! बड़ी बात यह है कि

“घोर जाड़ा हो या गर्मी कि बरसात
यह चौराहा जागता रहता है
ताकि मेहनतकशों

और मातबर के बीच रोटी की लय बनाये रख सके।”
यद्यपि यह कविता किसी ‘नुक्कड़ कविता’ या ‘पोस्टर कविता’ के रूप में नहीं लिखी गयी है, पर इसमें इन दोनों प्रकार की विशेषताएँ देखी जा सकती हैं।

रामदरश जी की उत्तरवर्ती कविताओं के केन्द्र में ‘आम आदमी’ है। उनकी कविताओं में प्रायः इसके प्रति केन्द्रण और निरूपण देखने को मिलता है। वे इसकी करुण और विडम्बनात्मक स्थिति के समर्थ चित्रे हैं। इसलिए इसकी आवर्तित प्रोक्ति उनके यहाँ उनकी प्रतिपाद्य प्रोक्ति बन जाती है, जिसका शब्द है ‘रोटी’। उनके यहाँ श्रम का गान है। वे इस ‘आम आदमी’ की तुलना, हर-कहीं उस ‘खास आदमी’ से करते हैं, जिससे विरोधी स्थितियाँ अग्रप्रस्तुत हो उठती हैं। वे बुर्जुआ, परजीवी, अभिजात लोगों के सन्दर्भ में श्रमी, सर्वहारा आदमी के अभाव का, उसके घर पर चूल्हे नहीं जल पाने का बड़ा कारुणिक बिम्ब उपस्थित करते हैं। नागार्जुन की ‘अकाल और उसके बाद’ शीर्षक कविता में चूल्हे नहीं जलने और जलने की दो भिन्न विरोधी स्थितियों की तुलनात्मकता है। पर रामदरश जी की कविताओं में जहाँ श्रमजीवियों के यहाँ चूल्हे नहीं जल पाने की अभावपरकता, विवशता और कारुणिकता है—

“कई दिनों से चूल्हा नहीं जला
माँ-बाप, भाई-बहन
निरिह आँखों से देख रहे हैं, एक-दूसरे को
वे चुप हैं बेवसी को पहचानते हुए
लेकिन भीतर एक हाहाकार हहरा रहा है”,
वहीं—

“कुछ दूरी पर एक दूसरी दुनिया है
जहाँ भरे पेट भवनों का विलास-पर्व है
महफिलों के इन्द्रधनुषी रंग हैं
छल-भरी हँसी की हलचल है
हाँ, यहाँ नर-देवता रहते हैं,
जो लोगों की रोटी छीन कर खाते हैं
कुछ खाते हैं, कुछ फेंक देते हैं...!”

इस तरह यहाँ दो भिन्न वर्गों की तुलनात्मक विरोधिता

है, जो आजादी मिलने के छह दशकों के बाद भी अब तक बनी हुई और तनी हुई है।

उनके यहाँ आग ही हँसी चूल्हे की हँसी है, आम आदमी को रोटी नसीब होने की परितृप्ति की हँसी है, पर मूलतः यह जीवनोष्मा की हँसी है। इसके अभाव की नहीं, इसके भाव की हँसी है। रामदरश जी इसी राज को इस तरह खोलते हैं—

“एक अत्याचार का मारा हुआ
एक अत्याचार पचाता हुआ
एक जीवन-शक्ति से वंचित होता हुआ
एक और-और हड़पने की शक्ति अर्जित करता हुआ।”

अन्ततः यह कहना होगा कि जनवादी आलोचकों के द्वारा अपनी कविता के मूल्यांकन में घोर उपेक्षा किये जाने और हाशिये पर रखे जाने के षड्यंत्रों के बावजूद रामदरश जी एक सच्चे और सशक्त जनकवि सिद्ध होते हैं, जैसा उनके और उनकी कविता के विवेक-सम्पन्न पाठक जानते और मानते हैं। इसलिए उन्हें अपने यशःस्वत्व के लिए न तो किसी प्रचार की चिन्ता रही है और न ही किसी प्रकार का आग्रह। उन्होंने इस ओर कभी ध्यान ही नहीं दिया, पर अपनी काव्य-संवेदना की समृद्धिवश वे अनेकानेक पुरस्कारों और सम्मानों से अलंकृत हुए, भले ही इसमें विलम्ब हुआ। उनकी कविता में महानायकों की जगह आम जन ही अन्योन्याश्रितता में सहज-स्वाभाविक संवेदन-अभिव्यंजन के साथ निरूपित बिम्बित हुए हैं। उन्होंने अपनी ‘शोहरत’ कविता में उसे संबोधित करते हुए लिखा है—

आयी हो, तो एक नेक काम कर जाओ न
देखो, मेरे पड़ोस के अनेक घरों में
मुश्किल से कभी-कभी चूल्हा जल पाता है
एक दर्द उनमें हाहाकार करता रहता है चुपचाप
तुम उनकी आवाज बन जाओ न
उनके दर्द को उन तक पहुँचा दो।...”

रामदरश जी की कविता की यही मूल संवेदना है। अपने इस स्वर को वे पूरे समाज और अपने समसामयिक शासन-तंत्र तक पहुँचाना चाहते हैं।

संपर्क : ‘साई कृपा’, 58, लाल एवेन्यू, डाकघर-रेयॉन एंड सिल्क मिल
अमृतसर- 143005 (पंजाब) मो. 09878647468

प्रतिरोध के आयाम

विमल वर्मा

विशिष्ट वामपंथी आलोचक एवं

‘चंद्रयान’ पत्रिका के संपादक

निःसंदेह यह युग-समय वित्तीय पूंजी की विचारधारा के तहत असहमति और विरोध की दृष्टि से पनपने वाले अवसरों को छीन रहा है। समय और मूल्य दोनों को विरूपित कर रहा है। समसामयिक संबंध विविध पतों के क्रम-संगठन में ऐसी विधि में स्तरित कर दिये गये हैं कि सहज (इन्स्टिक्ट) आवश्यकताओं के अंधे और उन्मादी जगत में हमारी नियति एक प्रतियोगी की नियति बनकर रह गयी है। आधुनिक नृविज्ञान को नवसाम्राज्यवादी हितों के अनुकूल पुनर्गठित किया जा रहा है। इस पुनर्गठन में उस कोटि के मनोविज्ञानवाद की व्यवस्था की जा रही है जिसमें नस्लवाद, जातिवाद, पृथक्तावाद, मूलतत्त्ववाद, सम्प्रदायवाद का नैसर्गिक भाष्य किया जा रहा है। समय की इस सामाजिकी में नृवंशवाद की पद्धति से नस्लगत पृथक्ता और वैमनस्य वाले विभेदों के अनेक संवर्गों की रचना की जा रही है। यानी वित्तीय पूंजी वाली विचारधारा के निहितार्थ जहाँ अतार्किकता के अर्थशास्त्र गढ़े जा रहे हैं वहीं अतार्किक सौन्दर्यशास्त्र उस कगार पर पहुँच गये हैं जहाँ ज्ञान और कर्म की नैतिक सैद्धान्तिक अनिवार्यताएँ ओंधे मुँह के बल लेटी पड़ी हैं। यानी सिद्धांत की जगह तदर्थवाद ने ले लिया है। शब्द तकनीक बन गया है और अर्थ उसके संप्रेषण की क्रिया बन गया है। यानी सबकी भूमिका बदल रही है। परंतु संरचना या रूप के लिए इतिहास की आवश्यकता होती है। इस संरचना में इतिहास की आवश्यकताओं के द्वंद्व विराजमान रहते हैं। जागरूक और प्रतिबद्ध रचनाकार इतिहास के रूपांतरणशील नवीनता को खोजते हैं क्योंकि संज्ञान की पद्धति भी ऐतिहासिक पद्धति है। रूपांतरणशीलता की प्रक्रिया सृजनशीलता के संदर्भ में पूंजीवाद और नृविज्ञानवाद की प्रत्येक कैटेगरी, उसके प्रत्येक संवर्ग की ज्ञानमीमांसीय आलोचना का आधार प्रस्तुत करती है। इस अवधि (रचना क्षणों) में इन्द्रिय बोधगत, अनुभवगत, विचारगत, सिद्धांतगत सक्रियता ऊर्जा प्रदान करती है।

यदि उपर्युक्त संदर्भ को तथ्यगत दृष्टि में ध्यान में रखते हुए आज की दलित-विमर्श वाली रचनाओं पर गौर करें तो कहानी में सामाजिक रूपांतरण की विधिमूलक प्रक्रिया संशयग्रस्त है। उनके पीठ से तो यही लगता है कि उन प्रदत्त रूपों की आकारिक संरचना ही रचनाबोध के लिए पर्याप्त है। अद्यतन व्यावहारिक को ही बौद्धिक क्षेत्र की वास्तविक सीमा माना जा रहा है। कहना न होगा कि किसी तरह की खासकर बौद्धिक क्षेत्र की सीमाएँ नहीं होतीं। परन्तु कहा जा रहा है कि “प्रत्येक शब्द और प्रत्येक वाक्य का अर्थ केवल उसी पाठ के शब्दों और वाक्यों के संबंधों द्वारा निर्धारित होता है।” ‘हंस’ में प्रकाशित ऐसी कहानियों की अधिकतम बहुलता है। लगता है जैसे

यहाँ 'कथात्मक वर्णन' के लिए वाह्य सत्ता का निर्देश आवश्यक नहीं। 'स्वसन्दर्भिता' ही सब कुछ है।

इस बवंडर में विजयकान्त की कहानी 'लीलावती' में विपरीत विन्यास प्रकट होता है। अगर इसके रूप और शैली की अवधारणा पर विचार करें तो लेखक रचना विशेष की तात्कालिकता और संभाव्य नियति के बीच की खाई को पाटना चाहता है। पूरी रचना के पाठ से सत्ता के प्रभुत्व में स्थानीकृत संबंध, व्यवहारों के समूह तिनपखिया मंडल, बड़झानी स्टेट के राजकुमार योगेन्द्र, पत्रिकाएँ और अखबार, ज्योतिषी, वकील, न्यायालय, ब्यूरोक्रेट के रूप में सत्ता के उपकरण बन गये हैं। प्रभुत्व का सत्य, प्रभुत्व की आकांक्षा ने सत्ता के माध्यम से प्रतिष्ठा अर्जित कर ली है। रचना के पोर-पोर में गठी हुई सत्ता का प्रतिष्ठानिक प्रभुत्व-प्रयोग तनिमा मंडल को महज गृहीता के अतिरिक्त कुछ नहीं बनने देता।

तनिमा मंडल की प्रथम श्रेणी में मैट्रिकुलेशन पास करना एक परिघटना है। "दस साल हुए, जब इसी कच्ची राह से वह बड़झानी स्टेट में उतारी गयी थी।"

"सूबे के उत्तरी इलाके की खबर बन गयी थी शादी।"

"सारे प्लान, तमाम ख्वाब उसकी गर्दन पर खड़े थे। मगर उससे कोई पूछगछ नहीं। किससे कहे वह?"

"लेकिन मुश्किलें खुद-ब-खुद छूट गयीं। स्टेट की ओर से ही इत्तला आ गयी कि बहू की पढ़ाई जारी रहेगी। शादी के फौरन बाद दिल्ली में बहू का दाखिला कराया जायेगा, जहाँ वर योगेन्द्र पढ़ रहे हैं। विदेश की पढ़ाई भी दिल्ली से ही तय हो जायेगी।" यहीं से रचनाकार ने 'शादी' को तनिमा के इतिहास की विडम्बना का एक अनिवार्य उपक्रम बनाया है। यहीं से तनावों का रूपायन शुरू होता है। रचना को आकार देने में विजयकान्त ने कल्पना के माध्यम से वस्तुओं के निहितार्थों के महत्त्वपूर्ण तफसीलों की पहचान की है।

दरअसल जैसा कि मैंने शुरुआत में ही लिखा है, उसके अनुसार आज के समय का इतिहास उस दौर में पहुँच गया है जहाँ जीवन के उत्पादन और पुनरुत्पादन की ग्लोबल अवस्थाएँ प्रगट होने लगी हैं। किसी ने लिखा भी है कि प्रवृत्तियों के प्रासेसिंग को समझने की जरूरत है।

सच तो यह है कि यदि तथ्य का इतिहास, तथ्य की जीवन शक्ति और उसके स्रोतों की समझदारी हो। समझदारी से मेरा आशय द्वंद्ववादी पद्धति है। इसी समझदारी से रचना में देश और काल की तात्त्विकता छन-छन कर ऐन्द्रिक बोध और अनुभव प्रत्यक्ष की निरन्तर जटिल उपस्थिति बनकर पाठक को संज्ञान तक पहुँचाती है। जब तक पूँजी, श्रम, सत्ता के आचरण का इतिहास नहीं समझा जायेगा, तब तक ज्ञान और कर्म की नैतिक तथा वैचारिक जरूरतों वाले मॉडल को भी नहीं पहचाना जा सकता।

मेरी समझ से रचना से रचनाकार को अलग कर देने से वही हश्र होगा जैसे उत्पादित माल से उत्पादनकर्ता को अलग कर देना।

यहाँ जिस परिवेश को रूपायित किया गया है उसमें बहुत सी सदियों को पार कर जाने के बाद भी उसमें पुरा-भौतिकता के अवशेष से जर्जरित, सक्रिय सांस्कृतिक, वैयक्तिक तथा अतिवैयक्तिक मानस व्यक्त होता है। इस सर्जनात्मक अनुभूति की प्रामाणिकता और विश्वसनीयता को समझने के लिए इतिहास की ओर मुड़ना पड़ेगा। क्योंकि रचनात्मकता किसी भाव, अनुभव, विचार या संवेदनात्मक परिस्थिति की ही होती है।

"भारत में बुर्जुआ वर्ग साम्राज्यवाद के उप-उत्पाद के रूप में उदित हुआ था जो विनिमय और सूदखोरों से संबंधित व्यापारियों और दूसरे लोगों में से आया था। अपनी सामन्ती शोषण-पद्धति को बदले बिना जमींदार वर्ग भी इस बुर्जुआ वर्ग का हिस्सेदार बन गया। परिणामस्वरूप कृषि-क्रांति नहीं हुई। पूर्व पूँजीवादी विचारधाराओं.... का आधार, काफी हद तक पूर्ववत बना रहा। ...जाति विचारधारा का यह सक्रिय हस्तक्षेप श्रमजीवियों के वर्ग-संघर्ष को तहस-नहस करता है...आज की जाति चेतना शासक वर्गों के पूर्वोक्त वर्गीय समझौते का नतीजा है। यह उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है।" (बी.टी. रणदिवे।)

साहित्य सामाजिक सत्ता को जानने का प्रयास करता है। कहानी सत्ता का ग्रहण अमूर्त से मूर्त में करती है। पूर्व पूँजीवादी विचारधारा का संस्कार तब दृश्यगत होता है तब तनिमा मंडल से उसकी माँ कहती है, "भतार नहीं तो भाग नहीं। अवतार भतार हैं उनके। उन्हीं के चटिया हैं तेरे

बाबू। उन्हीं के मंतर मारे हैं तेरे दूल्हा। हम हों या तुम, भतारे का भुरता न बनें हम, तो रबड़ मुकुट किस विधि पायें ?”

“मास्टर (तनिमा के पिता) कभी नहीं आये उसे समझाने। रोज देर रात तक मिलने पूर्ववत् आते रहे। लेकिन समझाने-बुझाने की कोई मंशा तक जाहिर नहीं की उन्होंने।”

वस्तुतः यहाँ पूंजी अस्मिता को परिभाषित कर रही है। पितृसत्तात्मक समाज में पुरुषों के वर्चस्व का संबंध स्त्रियों की अस्मिता से जुड़ा होता है। यहाँ मिशेल फूको का स्मरण आना अस्वाभाविक नहीं है। उन्होंने लिखा है— “सत्ता संबंधों की अपनी तकनीक और अपना व्यवहार उसके अपने स्थानीय संदर्भ में कूटबद्ध रहते हैं। उसी के माध्यम से प्रभुत्व कायम किया जाता है। सत्ता-संबंधों का ढाँचा अपनी आवश्यकता के अनुरूप सत्य को गढ़ता और बदलता है।....अधिकार के सिद्धांत का निर्माण और सामाजिक व्यवहारों में उसका चलन सुनिश्चित करवाकर सत्ता अपने को न्याय संगत ठहराती है।” (पावर ऑफ नॉलेज)

इस रचना में दो नारी पात्र हैं। यहाँ एक ठहरे हुए समाज की तथा दूसरी गत्यात्मक समाज का प्रतिनिधित्व करती हैं। ये प्रश्न स्त्री चेतना से जुड़े प्रश्न हैं। लेखक इन्हें भौतिक आधार एवं परिवेश से जोड़ कर रचता है। ये विशिष्ट ऐतिहासिक परिस्थितियों की पैदाइश है।

“मगर वापसी, तनिमा की मरजी होती, तो न। कैद में दिल्ली रही और कैद में वापसी। सोचा, कोई पड़ाव या ठहराव बन पाये। डैने तोले। उड़ान आजमाये। ऐसी ख्वाहिशें जब-तब कुलबुलायीं, तो शिकंजों में खूँखार करतब ही झेलने पड़े।”

“पढ़ाई की राह से आजादी की मंजिल पाने के ख्वाब चिलकते-चिथते गये।”

“योगेन्द्र द्वारा जमीन के लिए जमीन की लड़ाई पर न्यायालय का कब्जा हो गया।....योगेन्द्र तनिमा पर खुद को छितराते खिलखिला उठते।

तनिमा साथ न दे पाती। लेकिन शक्ल पर झाँझ भी न आने देती। न खिलखिला पाये, चेहरा हँसता ही दीखता। दिल्ली में यही एक हुनर तो साधा था उसने। या खुद को

साधते हुए यह हुनर खुद ही उसकी शक्ल पर चढ़ आया तो।”

यथार्थ पर चेतना के प्रभाव के बीच बनने वाले द्वंद्वात्मक संबंधों की तर्क संगति पाठक को तनिमा मंडल के मनोव्यापार, मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं के भीतर झाँकती दिखाई पड़ती है। जो कृति के रचे जाने और पाठ के समय पूरी सत्ता के साथ मौजूद है। यही प्रतीति और यथार्थ की द्वंद्वात्मकता है। तनिमा के मनोविज्ञान में समकालीन जटिलता और उपेक्षित ताजगी, इसकी मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया उसकी निजी नहीं, समकालीन अन्तर्विरोध का आलोचनात्मक चित्रण बन जाता है। यदि तनिमा की और तनिमा की मनोवैज्ञानिक विवशता पर गौर करें तो यह परिवर्तन के दूरगामी सन्दर्भों की ओर संकेत करता है जो भारतीय यथार्थ के भौतिक आधारों में मौजूद है। परंतु अभी तो यह उसकी मानसिक उपसंरचना में छिपा हुआ है।

“वकील योगेन्द्र (तनिमा के पति) ने स्टेट की औकात न्यायविधान की औकात के साथ नत्थी कर दी। कानून को चुनौती देने वाले हर कानून की छँटाई कर ली उन्होंने। कानून को पस्त करने के हर मुमकिन रास्ते कानून में मौजूद हैं, यही धुरंधरी हासिल कर तो वे लौटे थे। दिलचस्प नशे और हसीन जुए जैसा सुकून दे रहा था उन्हें कानून।...जो काम पालतू लठैत करते थे, वह पुलिस की जिम्मेदारी बनती चली गयी। जमीन की सारी लड़ाई पर न्यायालय का कब्जा हो गया।”

“योगेन्द्र का तेज सर्वव्यापी बनता गया। तनिमा धक्के खा जाती। धक्के तो थे ही उसके भीतर अब रूबरू हो जाते। छिपें तो कहाँ? भिड़ंत हो ही जाती। झूठ पर शब्द खर्चती कितना खाली हो पायी थी वह? यह कैसी काबलियत है, जिसे खुदकुशी की बँधुआरी में सुकून है?”

यह कथ्य अस्तित्व के तनाव को अभिव्यक्ति करता है। इस रचाव में आंतरिक गत्यात्मकता है जो तनिमा के छटपटाहट को आकार देता है। जाहिर है पुरुष और स्त्री दोनों की परिभाषा संवेदना से संदर्भित होती है। सूक्ष्म संवेदना मूल्यों के क्षेत्र में बहुत बारीक अनुभव से जुड़ती है। यह अनुभव संवेदना के जिस जटिल स्वर को व्यंजित करता है, वही मूल्यों को भी उसी स्तर पर व्यंजित करता

है। यहाँ पुरुष-शासित समाज में जो प्रक्रिया चल रही है उस प्रक्रिया से जुड़कर यह अनुभव रूप में ढाला गया है।

इस वैचारिक निर्मिति में एक व्यवस्था है, एक तर्कशास्त्र है जिसमें कई प्रसंग इस संरचना में विन्यस्त हो जाते हैं। तनिमा के मनोजगत में चल रहे विचारों, भावनाओं, द्वंद्व के उभार की पृष्ठपट की पद्धति पाठक को बताती है कि विचार और अनुभूति की प्रामाणिकता सत्य से नहीं, समाज की तात्कालिक अपेक्षाओं और मनःस्थितियों में मिलती है। यहाँ तनिमा की वास्तविक कामनाओं और अभिव्यक्ति के बीच एक फासला है। और यह भी कि स्त्री को उसकी लैंगिक भिन्नता का दंड देते हुए पितृसत्ता उसे इतिहास के बाहर ढकेल रही है। मेरी समझ में यहाँ वैयक्तिक पीड़ा के योग से स्त्री समुदाय का विमर्श रचा गया है। इस अस्मिता विमर्श में जहाँ 'अस्मि' को अपनी निजी आवाज की तलाश है। वहीं मर्द मानसिकता की भी शल्यक्रिया की गयी है। इस रचना-प्रतीक में स्त्री जगत, परिवार, समुदाय, जाति, विभक्त संस्कृति और सम्पुक्ति (तनिमा की माँ) के अनेकानेक बंधन में बँधा है। यहाँ तनिमा के आत्ममंथन की प्रक्रिया इस वीभत्स वास्तविकता को देखने और उबरने का विजन देती है।

गाँव इस सामंती अर्थतंत्र की पीड़ा झेल रहा है। वास्तविक काशतकारों को भूमि-व्यवस्था से बेदखल कर दिया गया है।

कहना न होगा कि अनेक भिन्नताओं और स्तर भेदों को ध्यान में रखकर इतिहास को समझा जाता है। पाठक के समझ में यह भी आ जाता है कि शक्ति ज्ञान का सबसे बड़ा औजार है। सत्य न्याय की प्रामाणिकता, इसी शक्ति के विमर्श से उत्पन्न होते हैं। ज्ञान और सत्ता के बीच, मानवता और आतंक के बीच, सुधार और वर्चस्व के बीच अन्योन्याश्रित संबंध है। सत्ता समाज के अनन्त व्यवहारों में विद्यमान ही नहीं, सक्रिय भी है। यानी भारत में प्रगति की माया चौंधियाने वाले क्रिया-स्वरूपों में सत्ता-व्यवस्था की सर्द काली छाया है जो हमारे रक्त को ठंडा कर रही है। जाहिर है कला का रूप भी अपने समय के विचारधारात्मक बोध को व्यक्त करता है। लेखक ने इस विमर्श को व्यवस्थागत मानवीय दुर्भावना के रूप में चित्रित करके वर्ग विभाजित समाज में छिपी वास्तविकता को उद्घाटित कर दिया है।

फिलहाल आज की समस्याओं से रूबरू होते हुए रचनाकार और पाठक दोनों वस्तुओं के अवबोध में- वस्तुओं के संबंधों के तंत्र को रचना के आलोक में देखते और दिखाते हैं। रचना-संकेत में संबंधों के कुलक (सेट ऑफ रिलेशन) संरचना के माध्यम से प्रकाशित होते हैं। आज का तकाजा है कि चेतना किन ठोस रूपों में व्यवस्था का विरोध करती है? वे वर्ग और उनके आपसी संबंध क्या हैं? रचनाकार ने उन्हें किस रूप में रूपायित किया है? जाहिर है चेतना वर्ग के स्वभाव और परिवेश में ढलती है। जागरूक रचनाकार वस्तुगत परिस्थितियों में मौजूद सर्जनात्मकता से अपनी रचना-चेतना को जोड़ता है। सृजनशीलता और कुछ नहीं एक तनावपूर्ण द्वंद्व लिए उपस्थित होती है और उसकी रणभूमि रचनाकार का मानस होता है।

मैंने इस लेख के प्रारंभ में ही लिखा था कि रूप और संरचना में इतिहास की आवश्यकता के द्वंद्व भरे रहते हैं। इसी दृष्टि से लेखक ने कथा आख्यान में 'आँधी-पानी' के रूपक द्वारा कृति-समय के विन्यास में यह नया संदर्भ जोड़कर समय की जो छवि गढ़ी है उसके पाठ से इतिहास का वह बिन्दु अन्वेषित हो जाता है मानो कृति का समूचा विन्यास उसी की आख्या हो।

सृजनशीलता तथा उसका आस्वादन सामाजिक ऐतिहासिक प्रक्रियाओं के रूप में देखना चाहिए। क्योंकि इस माध्यम से सामाजिक संगठन, उत्पादन प्रणाली, चिन्तन प्रणाली और भावना जगत में अनन्त भिन्नताएँ ऐतिहासिक प्रक्रिया के अंग रूप में घटित होती हैं।

“तभी तनिमा ने देखा कि एक छप्पर भी उसी ऊँचाई पर उठ-गिर रहा है। ताज्जुब कि उसके साथ ही उठता-गिरता एक आदमी लटक रहा था। और वह किचकिचाते ठहाके फोड़ रहा था, “उड़ा साला। दिखा दम। सात स्वर्ग तक न छोड़ूंगा रे घतिया।”

घोस्ट! यही लगा तनिमा को।

छप्पर के फूस उड़ते गये। बल्लों की रस्सियाँ तड़कनें लगीं। मगर उसकी पकड़ नहीं छूटी। अब उसके पैर केला गाछों की रगड़ से बहुत ऊपर चले गये थे। उड़ रहा था वह। लगभग दहकते ताड़ वृक्ष की ऊँचाई पर। छप्पर जकड़े। महज दो बल्ले बचे थे उसकी मुट्टियों में। फिर भी

पकड़ और ठहाके कायम थे। “उड़ा लगा जोर! कर धरती से बे जोड़! तो मानूँ तेरी गुलामी!” आगे-पीछे, ऊपर-नीचे हहाते वह कई बार तनिमा के सिर से गुजरा। लगातार बिजली पर उसके टकराते बोल तो टंकार मार ही रहे थे।

नहीं घोस्ट नहीं है यह। प्रेत लीला नहीं देख रही वह। भय की जगह पसरते विस्मय ने उसकी आँखें चौड़ी कर दी- आदमी ऐसा लीलाघर? ऐसा जोरावर!”

लेख लम्बे हो जाने के भय से उदाहरण को और लम्बा नहीं करना चाहता। परन्तु यहाँ रचनाकार ने भावों और आवेगों के जो आकार निरूपित किये हैं, इससे यह प्रत्यक्ष हो जाता है कि यहाँ अवधारणा और अभिव्यक्ति के बीच कल्पना एक कड़ी का काम करती है। पूरा दृश्य अनुभूति और बिम्बों में प्रस्तुत किया गया है। यहाँ ‘लीलाघर’ की अदम्य जिजीविषा तो है ही लगता है इस भयावह क्षणों में भी सौन्दर्य को सक्रिय और रचनात्मक सत्ता के रूप में रचा गया है। भाषा-संकेतों का नेटवर्क सगर्भ अर्थों, उद्देश्यों, व्यवहारों के समूचे दायरे को घेरता है। यह सच है कि मानवीय अन्तर्वस्तु और सौन्दर्यपरक मूल्य मूर्त ऐन्द्रिय वस्तु में आकार पाने और व्यक्त होने पर हासिल होता है।

लीलाघर यानी उस केला बागान का गार्ड- उसके क्रियाकलापों से लगता है कि उसकी आन्तरिक मनुष्यता व्यावहारिक सामाजिक क्षेत्र में जैसा और जितना संघर्ष करती है उसी के अनुसार वह अपना अंतर्बाह्य सन्तुलन और सामंजस्य भी स्थापित करता है। यहाँ हमें रवीन्द्रनाथ टैगोर की उक्ति स्मरण हो जाती है कि “सुख धूल बचा कर चलता है और आनन्द धूल में लोट जाता है।” इसलिए इस रचनाशीलता में प्रवृत्तियाँ द्विधात्मक संबंधों में परिस्थितियों और क्रियाओं से उभरती हैं।

जिस तरह चलचित्र में मोन्ताज अलग-अलग शाट्स को काटकर और जोड़कर एक सुनिश्चित भाव पैदा करता है उसी तरह लीलाघर द्वारा आँधी पानी और उसके बाद गेस्चर यानी भंगिमा, मूड टेम्पो, जिस्ट (सार), मुद्रा (ऐटिट्यूड), दृष्टिकोण (थ्यू प्वाइण्ट) को साथ-साथ विकसित किया गया है। इससे पहचानने और हारर को महसूस करने की वास्तविक भावना उत्पन्न की गयी है।

इसी कथा में विजयकान्त ने एक रेडिकल मोमेण्ट की

अवतारणा की है।

“तनिमा की चहक मुच गयी”, “गार्ड हो तुम? किसके?”

मुड़ा नहीं वह। जवाब दे गया। देता ही गया- “इस फसल, इस जमीन और इस गार्ड घर का।”

“मतलब, मंडल स्टेट के?”

“नहीं। फसल और जमीन का।”

“उन्हीं की जमीन, उन्हीं की फसल, है न?”

“नहीं। मेरी और उनचास दूसरे खेतिहर मजूरों की।”

“स्टेज की मंजूरी मिल गयी है न?”

अब फिर हँसा वह, “आँधी ने यह करने की मंजूरी दी थी मुझे।”

“किस जाति के हो तुम पचास?”

“खेतिहर मजदूर। बता तो चुका।”

“इल्लीगल कब्जों की लीडिंग लाइन में हो। इतना तो बता ही चुके।”

“इल्लीगल?”...“पाँच की पचीस, जाने कितने पुशों में बँटाई का हक इल्लीगल है? अरहर, मकई, सरसों उपजाने के हम लीगल बँटाईदार थे। अब सिंगापुरी केलों पर सिक्कों की बारिश होने लगी तो हम इल्लीगल हो गये?” मैडम इन जमीनों में तब हल उतरते थे। सैकड़ों। बैल और आदमी उतरते थे। हजारों। भुरते जैसी मुलायम बना दी जाती थी मिट्टी। तब उगती थी फसल। न स्टेट के हल, न बीज, न निकौनी, न पटाई, न मजूरी। फिर भी उनके पैरों पर आधी फसल चढ़ा दी जाती रही। इस जमीन के एवज में ही न? आज कलकत्ता मुछआ मंडी के आढ़तिये और बैंक ए.डी.वी. भी तो इसी जमीन पर पैसे उलीच रहे हैं न? तो हमारा हक-हिस्सा क्योंकर गुम हो गया? जोतने-बोने की जरूरत खत्म हो गयी, इसलिए? या सेठिया मुनाफा आने लगा इसलिए?”

“...किसी के बँटाईदार होने का कोई सबूत ही नहीं कोर्ट के पास। खुद क्यों नहीं जुटाती यह कोर्ट? जुटाये सबूतों की भिड़ंत का जय-पराजय एलान करती है। गजब है यह कानून भी।”

इस प्रसंग की आकस्मिक उद्भावना जहाँ एक व्यक्ति (लीलाघर, गार्ड) द्वारा रची गयी है, जिसके माध्यम से

व्यक्ति में इतिहास और समाज की प्रतिक्रिया प्रगट हो जाती है। समष्टि में व्यक्ति को देखने की यह रचना-दृष्टि जहाँ रोजमर्रा की घटना को ऐतिहासिक घटना में बदल देती है वहीं ऐन्द्रिय बोध और अनुभव प्रत्यक्ष को निरन्तर जटिल रूप में उपस्थित कर पाठक को संज्ञान की देहरी तक पहुँचा देती है। यह घटना द्वंद्ववादी विधि से ऐतिहासिकता में रूपान्तरित कर दी गयी है। इस पद्धति द्वारा पूंजीवाद और नृविज्ञानवाद की हर कैटेगरी को या उसके प्रत्येक संवर्ग की ज्ञानमीमांसीय आलोचना का आधार प्रस्तुत किया गया है। जिन रचनाकारों और पाठकों में तथ्य की जीवनशक्ति और उसके खोतों की समझ नदारद है उन्हें यह रचना नया आलोक दे सकती है। इस तरह कथा सत्ता के अवग्रहण में अमूर्त से मूर्त की ओर पहुँचती है। साथ ही साथ तनिमा के माध्यम से भाषा और मनस्तत्त्वों पर बाहरी और भीतरी संबंधों के तनावों का समुच्चय भी मिल जाता है। रचनाकार हर दृश्य में ठहरते, उस दृश्य के अन्तरतम में पैठते हुए उसके मर्म को उजागर कर देता है। यह भी कोई यथार्थ अब इकहरा नहीं होता। यह सच है कि जिस हद तक चेतना एक सच्चाई को चेतती है, उस हद तक सच्चाई भी एक वस्तु है। इसी को वस्तु-सच्चाई (थिंग रियलिटी) कहा गया है। परन्तु नए अर्थ, नए मूल्य, नए व्यवहार, नए अनुभव, नयी सार्थकताएँ निरन्तर निर्मित होती रहती हैं। वैकल्पिक और विरोधी मूल्यों में, वास्तविक परिस्थितियों में निरन्तर ऐतिहासिक परिवर्तन होता रहता है। रचना में व्यवहार की वास्तविकता और उनकी रचनाशीलता व्यावहारिक दशाओं को ध्यान में रखते हुए यह रचना रची गयी है। इस तरह की सार्थक रचना तभी निर्मित की जा सकती है जब समकालीन संघर्षों के भीतर चलते हुए, पकते हुए, रचे जाते हुए मूल्यों को पहचाना जाय। हमारे समाज और जीवन-चक्र को परिवर्तित करने का जो उपक्रम चल रहा है, उस प्रक्रिया पर मनन किया जाय।

.....

.....

आजकल विद्रोह हमारे आर्थिक, सामाजिक, व्यक्तिगत अर्थात् अनेक स्तरों पर चल रहा है। प्रश्न उठता है कि क्या इन स्तरों पर विशाल परिवर्तन की कामना इस विद्रोह के साथ जुड़ी है। उसकी कार्यनीति और रणनीति पर गौर

करना जरूरी है।

अन्त में तनिमा मंडल की विडम्बना और गहरी तथा मार्मिक हो उठती है। जब लीलाधर के सम्पर्क में उसमें (तनिमा में) सामान्य अनुभवों का नया सन्दर्भ जुड़ा। यूँ पहले से ही तनिमा का अन्तर्बाह्य टूट-फूट से आक्रान्त था। इस कथा में उसकी विडम्बना का सारा रचाव और ताना-बाना बहुत साफ दीखता है। वह अपने निजी अनुभव से वस्तुओं, संबंधों, वास्तविकताओं की नयी-नयी विडम्बनाओं को पहचानने लगती है। उसकी स्थानान्तरित चेतना नए-नए परिवेश की टकराहट की कड़वाहट का बोध करा देती है। लेखक ने परत-दर-परत उसके अस्तित्व के तिलस्म को खोला है। जब उसके पति ने उसके बयान द्वारा एक झूठा क्रिमिनल प्रति-संदर्भ तैयार करना चाहा तो उसके भावलोक में आन्तरिक अवरोध बाहर आकर प्रत्यक्ष रौद्र रूप धारण करता है। तो- योगेन्द्र के माध्यम से तनिमा के अस्तित्व की अन्तर्निष्ठता पर टिकी नैतिकता भरभरा कर गिर गयी। ध्वस्त अतीत, विकर्षक वर्तमान, अदृश्य वर्तमान के अन्तराल में उसकी संवेदनात्मक चेतना में वस्तुओं को लेखक ने नए सिरे से अन्तर्विरोध के एक नए बिन्दु पर कसते, जूझते, टकराते हुए दिखाया है। लगता है समय के शाप ने परिस्थिति के आतंक से उसके जीवन को अजगर की तरह लपेट लिया है।

“आरेस्ट मी! यू ब्लडी मर्द...चीत्कारती लपक पड़ी तनिमा। उसके घुटनों पर योगेन्द्र की लातें बरस गयीं। औंध गिरी तनिमा। पलटी तो उसके खूनमखून थूथन पर योगेन्द्र के थूथन थे। झागमझाग। पंजे उसकी गर्दन पर और वह छाती पर।...

बाँधी, जकड़ी जा रही थी वह।...पागलखाने में...आसमान की ओर सन्नद्ध थी तनिमा। उसकी आँखें, अँगुली और आह्वान भी- पता करना। पता करना, लीलाधर! और टक्करें लेना। चाहे जीतना मत। हारना मत, पर टक्करें लेना न छोड़ना, जानम जोरावर! वी हैव टु लिव। वी हैव टु विन दि स्टेट पावर। समझा रे, गार्डवा...

बाहें उड़ाती, गले की औकात से टक्करों का आह्वान करती और राज्य सत्ता पर दखल का एलान करती यही लीलावती तो उनकी जरूरत थी। बददिमाग, मदमिजाज,

पावर वुमन।”

यहाँ पाठक के मन में यह प्रश्न उठ सकता है कि तनिमा मंडल के इस वक्तव्य से कहीं कथा-संरचना कमजोर तो नहीं हो गयी। क्योंकि कहानीकार निष्कर्ष नहीं देता है। यह अवकाश पाठक के लिए छोड़ देता है। परन्तु रचना के इस बुनावट में तनिमा मंडल का स्वप्न और यथार्थ निर्मम और भयावह अन्तर्विरोधों की चपेट में आकर टूट कर समाप्त हो जाता है और अपने पति द्वारा मार खाने से वह तो पागल हो ही गयी।

एस. पी. जो अछूत जाति का था उसके भीतर के उद्वेलन का वर्णन- “आज तनिमा को देखते हुए भी अपनी समझ के भोथरेपन से ही टक्कर हो रही थी उसकी। यह पिछड़ी है? दलित है? मंडल है, इसलिए पिछड़ी? और स्त्री है इसलिए दलित? गैर-दलित पुरुष तो हैं, मगर गैर-दलित स्त्रियाँ कोई नहीं। सबकी सब दलित हैं।...अपनी जाति की स्त्रियाँ, डोमों, मुसहरों की स्त्रियाँ कौंधती। मैटीज, मारुति, मर्सिडीज और लालबत्ती धारिणी गाड़ियों से पहुँचने वाली स्त्रियाँ तड़कती।...ये सब वन कास्ट हैं। वुमन कास्ट? ईक्वली अप्रेस्ड?”

पाठक को यहाँ सैद्धान्तिक दृष्टि मिल जाती है कि यथार्थ के जटिल, गहन, तहदार संरचनाएँ तभी समझी जा सकती हैं जब इन्द्रिय बोध के साथ सैद्धांतिक दृष्टि हो।

मनोविज्ञान व्यक्ति के मानसिक अवस्था की तलाश करता है। तनिमा की बेहोशी में उसका अवचेतन मुखर हो उठा जब वह “पता करना...वी हैव टू विन द स्टेट पावर”...अवचेतन से प्रगट यह अनुभव तनिमा की एकान्त ऊर्जा से सक्रिय होकर, उसकी अपनी चेतना अपने खिलाफ परिस्थितियों से एकाएक इतनी बड़ी हो जाती है। यह बड़ा हो जाना, इस तरह का विस्फोट उसके स्वभाव के भीतरी स्वरूप जैसा लगता है।

इस प्रकार रचनाकार ने नयी मूल्य व्यवस्था का आलोचनात्मक परिप्रेक्ष्य तैयार किया है। तनिमा का चरित्र समाज के बीच अपनी मानवीय विडम्बना सहित यहाँ ‘आलोचक और आलोच्य’ दोनों एक साथ बन जाती है। तनिमा का सिनिकल एक्ट अपनी फलश्रुति में समकालीन स्थिति की वस्तुपरक दशा की व्याख्या है। मुक्तिबोध ने लिखा भी है कि “मेरी कविता डंक उठाए एक बिच्छू की चोट है।”

संपर्क :

एच/13, एल.आई.जी. इस्टेट
8/1, रुस्तम जी पारसी रोड, काशीपुर,
कोलकाता- 700002, मो. 9038340568

ओम प्रकाश वाल्मीकि का काव्य भुजन

(यह आलेख ओमप्रकाश वाल्मीकि जी के 17 नवम्बर 2013 को असमय छोड़ जाने पर समर्पित)

डॉ. अरविन्द कुमार

असि प्रो०, हिंदी विभाग

राजकीय महिला महाविद्यालय, प्रतापगढ़

कविता कवि की भावनाओं का स्पंदन होती है जो अनायास निकलकर बाहर आ जाती है। ओमप्रकाश वाल्मीकि की कविता स्वतःस्फूर्त नहीं है। अपितु गहन स्वानुभूति का स्वतःस्फुरण है। ओमप्रकाश वाल्मीकि के तीन कविता संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं 'सदियों का संताप' (1989) 'बस्स! बहुत हो चुका' (1997) तथा 'अब और नहीं' (2009)। ओमप्रकाश वाल्मीकि ने बहुत गहराई से जिया है उनका जिया हुआ यथार्थ ही उनकी कविताओं की विषयवस्तु है। 'सदियों का संताप' (1989) की कविताओं पर आलोचकों के अपने अपने अभिमत हैं। ये कविताएं अतीत के विभिन्न संदर्भों को खोलकर रखती हैं। 'युग चेतना' नामक कविता में कवि इतिहास को कठघरे में खड़ा करते दिखाई पड़ते हैं। देखें; 'इतिहास यहां नकली है/मर्यादाएं यहां सब झूठी/हत्याओं की रक्त रंजित उँगलियों पर/जैसे चमक रही/सोने की नग जड़ी अंगूठियां।' ¹ कवि इतिहास के स्याह पन्नों पर लिखी दलितों की इबारत को भूल पाने में असमर्थ है तभी तो 'मुट्ठी भर चावल' कविता में अपने अज्ञात लोगों के प्रति भावांजलि प्रकट करता हुआ कवि कहता है, 'ओ, मेरे अज्ञात, अनाम पुरखों/तुम्हारे मूक शब्द /जल रहे हैं/दहकती राख की तरह/राख; जो लगातार कांप रही है/रोष में भरी हुई।' ² 'मेरे पुरखे' कविता में भी कवि 'निर्दोष' पुरखों के प्रति संवेदना प्रकट करता हुआ कहता है; "कितने मासूम थे वे/मेरे पुरखे/जो इन्सान थे/लेकिन अछूत थे।" ³ शरणकुमार लिम्बाले ने 'बस्स! बहुत हो चुका' कविता संग्रह की कविताओं के संबंध में कहा है; "संग्रह की हर कविता मेरा बयान लगती है। मेरी पीड़ा और प्रश्न इन कविताओं में दिखाई दिये।" ⁴ बटरोही ने तो 'अदम्य जिजीविषा' की कविताएं कहा है; "कविताओं में भावकूलता है और शब्द तथा भावना को एकाकार कर सकने की दुर्धर्ष जिजीविषा।" ⁵

प्रगतियुग से हिंदी कविता का बंधा हुआ परिदृश्य टूटा और उसमें कविता के 'निम्नवर्गीय' स्याह पक्ष को रेखांकित करना प्रारम्भ कर दिया गया। सूर्यकांत त्रिपाठी निराला ने जहां कविता को छंद मुक्त किया वहीं विषय का वैविध्य भी बढ़ाया। उनकी कविताओं में 'भिक्षुक', 'तोड़ती पत्थर', 'खजोहरा', 'गर्म पकौड़ी', 'कुकुरमुत्ता', 'प्रेयसी', 'जल्द जल्द पैर बढ़ाओ' इत्यादि कविताएं 'निम्नवर्गीय' जीवन का प्रतिनिधित्व करती हैं। धूमिल, त्रिलोचन जैसे कवियों ने भी समाज की उपेक्षित नब्ज पकड़ने की कोशिश की है, धूमिल की 'मोचीराम', त्रिलोचन की 'हरिजनगाथा' इसी का प्रमाण हैं। ओमप्रकाश वाल्मीकि 'वर्ग वैषम्य' के स्थान पर 'दलित जीवन' की मूल अभिव्यक्ति करते हैं। क्योंकि दलित समाज सदियों से शोषित, उपेक्षित रहा है। कवि इतिहास को मुड़-मुड़कर बार-बार देखता है, "मेरी पीढ़ी सदियों के

अभिशाप को/कंधों पर लादे/गांव से/शहर तक आयी है/ खड़ी देख रही है/चौराहे पर/मशाल लिए जाते जुलूस को।”⁶ ‘सदियों का संताप’ का कवि इतिहास के प्रत्येक पहलू पर प्रश्न करता है। सामंती समाज की मानसिकता में इसका हल खोजते हुए दिखाई पड़ता है। ‘हथेलियों में थमा सिर’ कविता में इस रूप को पहचाना जा सकता है, “गली के मुहाने पर/खांसता सदियों का अभिशाप/समय की गिनती भूल चुका है/साथ ही भूल चुका है/सांझ सबरे का अंतर।”⁷ यह व्यवस्था विस्थापन और नई व्यवस्था बनाने की ओर संकेत कर रहा है। अब इस सड़ी गली दायम दर्जे की व्यवस्था समाप्त कर एक नए समाज का निर्माण किया जाय, जहां लोग चैन की सांस ले सकें।

शोषणवादी मानसिकता, दुष्क्र को ‘खेत उदास है’ कविता से समझा जा सकता है; “खेत उदास है/भरपूर फसल के बाद भी/सिर पर तसला रखे हरिया/चढ़ उतर रहा है एक एक सीढ़ी/ऊंची उठती दीवार पर।”⁸ कवि शोषणवादी मानसिकता के खिलाफ ‘संघर्षरत’ है इसमें वह ‘आदमी’ को एक ‘आदमी’ बनाने में संकल्पित है। तभी तो ‘विपथित संघर्ष –यात्रा’ कविता में कवि का कथन है; “स्मृतियां धुंधलाने लगी हैं/फीका पड़ रहा है नीला रंग/जिसने सिखाया था/अपने हक लड़ने का तरीका/आदमी को देखना/आदमी की तरह।”⁹ किसी भी मनुष्य की अपनी शैली होती है उसे जीवन-संसार को अपनी तरह से देखने का अधिकार रहता है ‘बयान’ कविता में कवि बनावटीपन-दिखावटीपन के सख्त खिलाफ है। वह आज तक लिखे गए अधिकांशतः साहित्य में ‘दलित’ को तलाशते हुए दिखाई पड़ते हैं। वह संभ्रात कहे जाने वाले लोगों से प्रश्न कर देते हैं और कहते हैं, “वे चाहते हैं/मैं शामिल रहूं उनकी बहसों में/उनकी सहृदयता का बनावटीपन/छुप नहीं पाता है उनके वक्तव्यों में/उनके बयानों में/कहीं नहीं है मेरा जिक्र।”¹⁰

कवि मनुवादी संस्कारों के विरुद्ध आवाज उठाता हुआ दिखाई पड़ता है। वह ऐसे बंधनों को तोड़ देना चाहता है। अस्पृश्यता कितनी घातक है जो मनुष्य को ‘मनुष्य’ रहने नहीं देती। कवि कहता है, “हम छू भी नहीं पाते/मैदान के बीच खींची रेखा/बज जाती है सीटी/खेल खत्म होने की/

पारी शुरू होने से पहले ही/हमारी खामोशी गूँजती है/हमारे ही भीतर/आपातकालीन सायरन-सी।”¹¹

दलित कवि ‘वेदना’ और ‘टीस’ को प्रमुखता देता है तभी तो ओमप्रकाश वाल्मीकि ‘कुदाल’ शीर्षक कविता में संबोधित करते हुए कहते हैं; “और मैं कीचड़ से लथपथ पांव लिए/हाथ में थामे कुदाल/धरती के सख्त सीने को छील रहा था/जीवन बूटी की तलाश में।”¹² कवि की यह वेदना नए भविष्य की तलाश है। ‘यातना’ दलित कविता की पहचान है। ‘यातना’ में शारीरिक, मानसिक पीड़ाओं का जिक्र करता है, जिसे दलित समाज के पूर्वजों ने सहन किया है, जैसे कि, “शारीरिक यातनाओं से/बड़ी यंत्रणा होती है/इच्छाओं के विरुद्ध जीना/या देखते-देखते छिन जाना/उन क्षणों का/जिनसे हंसा जा सकता था/गुनगुनाया जा सकता था/हवाओं की तरह।”¹³ ‘कोलाहल’ कविता में भी कवि के इस संदर्भ को समझा जा सकता है, “गूंगी चीखों में परत-दर-परत छिपी/दुखों की कहानी/रह जाती है अनसुनी/हृदय के स्पंदन/घटते हैं/बढ़ते हैं/हर रोज एक-सी रफ्तार में/फिर भी/भीतर का सोर/कम नहीं होता।”¹⁴ यातना के विविध रूप ओमप्रकाश वाल्मीकि की कविता में दिखाई पड़ते हैं।

आक्रोश दलित कविता का पैना हथियार है। ओमप्रकाश वाल्मीकि सामाजिक ऊंच-नीच के खिलाफ बेहद आक्रोशित है। ‘सदियों का संताप’, ‘बस्स! बहुत हो चुका’ एवं ‘अब और नहीं’ काव्य-संग्रह की कविताओं में इस रूप को देखा जा सकता है। ‘शंबूक का कटा सिर’ कविता में कवि परंपरा जनित जड़ मानसिकता के खिलाफ है, इसीलिए ‘राम’ द्वारा शंबूक का वध करना निरापराध रक्त का बहना है। जिसके प्रति कवि कहता है, “शंबूक तुम्हारा रक्त जमीन के अंदर/समा गया है जो किसी भी दिन/फूटकर बाहर आएगा/ज्वालामुखी बनकर।”¹⁵ ‘बस्स! बहुत हो चुका’ में कवि कहता है, “बस्स! बहुत हो चुका/चुप रहना/निरर्थक पड़े पत्थर/अब काम आएंगे संतप्त जनों के।”¹⁶ कवि मनुवादी संस्कारों के विरुद्ध आक्रोशित है, तभी वह सनातन धर्म के मानने वालों के पवित्र ‘गंगा’ में स्नान करने से इनकार कर देता है। कवि कहता है, “इसलिए तय कर लिया मैंने/नहीं नहाऊंगा ऐसी किसी गंगा में/जहां

पंडे की गिद्ध नजरें गड़ी हों/अस्थियों के बीच रखे सिक्कों/ और दक्षिणा के रुपयों पर/विसर्जन से पहले ही/झपट्टा मारने के लिए बाज की तरह।”¹⁷ पौराणिक धर्म ग्रंथों पर एक विशेष ‘जाति’ का एकाधिकार, स्वार्थ, लालच के वशीभूत होकर ‘शब्दों’ के अर्थ बदलकर कुछ समय तक तो गुमराह किया जा सकता है पर सदैव गुमराह नहीं किया जा सकता है। ‘पंडित का चेहरा’ कविता में इस तथ्य को स्पष्ट करते हैं, “शब्द कभी झूठ नहीं बोलते हैं उनके अर्थ/ अर्थ: जिसे बदल लेता था/गांव का पंडित/दक्षिणा की राशि देखकर।”¹⁸

दलित कवियों द्वारा लिखित लेखन के विषय में स्वयं ओमप्रकाश वाल्मीकि का अभिमत है, “दलित कवि कल्पनालोक में नहीं, बल्कि भोगे हुए यथार्थ से अनुभूति और संवेदना से कविता रचता है। वह जीवन से असम्पृक्त नहीं रहता। वह घृणा में नहीं प्रेम में विश्वास करता है।”¹⁹ शायद यही कारण है सदियों से चले आ रहे ‘जातिगत, वर्णगत विभेद का नकार’ करता है। वह ऐसे संकीर्ण मूल्यों को नकारता है जिससे समाज में छोटे-बड़े की खाई बना रहे। ‘तब तुम क्या करोगे?’ कविता में कवि सीधे कहता है, “यदि तुम्हें/धकेलकर गांव से बाहर कर दिया जाए/पानी तक न लेने दिया जाय कुएं से/दुत्कारा फटकारा जाए/चिलचिलाती दुपहर में/कहा जाए तोड़ने की पत्थर/काम के बदले/दिया जाय खाने को जूठन/तब तुम क्या करोगे?”²⁰ अब स्थितियों में बदलाव आया है दलित युवा शहर की ओर पलायन कर रोजगार तलाश रहे हैं। यह कवि का भोगा, जिया हुआ जीवन है, जिसे वह नकारता है क्योंकि ऐसी पहले स्थितियां थीं। ‘अपने हिस्से की रोटी’ कविता में कवि सीधे हिंदुत्ववादी देवताओं को खुलेआम नकारता है अपितु संघर्ष को बयान करता है। कवि कहता है, “ओ, हजारों साल पुराने देवताओं/मैं नकारता हूं/ तुम्हारे अस्तित्व को/मैं लडूंगा/अपनी हड्डियों के बज्र से/ जिसकी मठ पर चिपकी है/निर्दोष बच्चों की सिसकियां/ लुटी-पिटी स्त्रियों का प्रतिशोध।”²⁰ ‘नकार’ की प्रवृत्ति उनकी अन्य कविताओं में भी दिखाई पड़ती है। ‘अच्छा ही हुआ’ में कवि का कथन है कि उच्चवर्गीय समाज में जन्म लेने पर मनुष्य कर्मकाण्ड, अंधविश्वास, पाखण्डों पर विश्वास

करने लगता है। कवि कहता है, “अच्छा ही हुआ/मैं नहीं जन्मा/उच्चवर्णीय मां के गर्भ से/बच गया मैं/श्रेष्ठता की अहमन्यता से/पाखण्ड की देहरी।”²² कवि ने यहां निम्नवर्णीय समाज का महत्त्व प्रतिपादित किया है। यह कवि की श्रेष्ठता है स्वयं को निम्नतर समझना मूर्खता है।

भारत की सामाजिक संरचना ‘जाति’ आधारित है, शिक्षा का प्रचार-प्रसार होने के बाद भी भारतीय समाज में जाति-संरचना टूट नहीं रही है, बल्कि ‘जाति’ मजबूत हो रही है। ‘जाति’ संरचना को मजबूत बनाने में सबसे अधिक भूमिका राजनीतिक पार्टियां कर रही हैं। उनका मुख्य उद्देश्य ‘जाति’ की राजनीति कर सत्ता प्राप्त करना है। ‘जाति’ संरचना को तोड़ने के लिए बौद्धिक समाज, शिक्षित समाज को अपना ब्रेनवॉश करना पड़ेगा। जिससे आने वाली पीढ़ी के लिए निर्माण किया जा सके। ओमप्रकाश वाल्मीकि ‘जाति’ के भेदभाव को नकार उठते हैं। समाज में ‘जाति’ ने ऊंच-नीच की स्थापना की है। तभी तो वह कहते हैं, “स्वीकार्य नहीं मुझे जाना/मृत्यु के बाद/तुम्हारे स्वर्ग में/वहां भी तुम/पहचानोगे मुझे/मेरी जाति से ही।”²³ ‘जाति’ नाम से कवि ने दो कविताएँ लिखी। पहली कविता में विषय विस्तार नहीं है पर दूसरी ‘जाति’ शीर्षक कविता पहली कविता का ‘विस्तार’ है। जहां उन्होंने ‘जाति’ को आदिम सभ्यता का नुकीला औजार कहा है। “जाति आदिम सभ्यता का/नुकीला औजार है/जो सड़क चलते आदमी को/कर देता है छलनी/ एक तुम हो/ जो अभी तक चिपके हो जाति से/न जाने किसने/तुम्हारे गले में/डाल दिया है जाति का फंदा/जो तुम्हें जीने देता है/न हमें।”²⁴

ओमप्रकाश वाल्मीकि समाज के हर घृणित पक्ष पर असहमति दर्ज करते हैं। ‘असहमति’ शीर्षक कविता में कवि अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर असहमति प्रकट करता है क्योंकि कवि कहना चाहता है इसके पूर्व जो भी लिखा गया, वह सब सत्य नहीं है। कवि कहता है, “मैं भी चाहता हूं/मेरे शब्द सीख जाएं/असहमति में सिर हिलाना।”²⁵ यह कवि का अपना निजीपन है जो उन्हें सबसे अलग करता है और उन्हें एक विशिष्ट स्थान देता है। देवेंद्र चौबे ने उनकी कविता के विषय में कहा है, “कविता में यथार्थ और अनुभव की जो अभिव्यक्ति होती है, वह एक तरह से

पुनर्रचित ही होती है। कवि उन्हें अपने जीवन अथवा सामाजिक संदर्भों से उठाकर रचनात्मक भाषा में अभिव्यक्त करता है।²⁶

ओमप्रकाश वाल्मीकि असहमति ही नहीं प्रकट करते हैं वरन् दोयम दर्जे की सामाजिक व्यवस्था पर 'प्रहार' भी करते हैं। 'प्रहार' कर किसी व्यक्ति विशेष को चोट पहुंचाना नहीं है। वह तो 'रूढ़' हो चुकी मान्यताओं, मूल्यों, परंपराओं, रीतियों, लोकाचारों, प्रचलित जातिवादी लोकविश्वासों का खण्डन मात्र है। 'जाति व्यवस्था' को वह वर्णव्यवस्था या मनुवाद की देन मानते हैं। तभी वह कहते हैं, "बाहे फड़कती हैं/जिह्वा मचलती है/प्रगति अवरूद्ध/जाति व्यवस्था के बंधन में/अतीत शोषित, प्रताड़ित/इतिहास गहन अंधकार में डूब गया है।"²⁷ भारत की शिक्षा व्यवस्था समान नहीं है वह तो दोहरी शिक्षा पद्धति है। कवि डॉ. अंबेडकर के त्रि-सिद्धांतों को मानता है। शिक्षा प्राप्त करके ही स्वयं का उत्थान किया जा सकता है। तभी तो वह कहते हैं, "और मैं/शहर के बीचों बीच/उलटा-लटका हूं जमूरे की तरह/इस उम्मीद में/कि भीड़ से कोई एक बाहर आएगा/और सूर्य की तेज रोशनी मशाल की तरह जलाकर/अंधेरे के उत्सव का/पटाक्षेप कर देगा।"²⁸ यहां 'रोशनी', 'मशाल', शिक्षा अर्थात् ज्ञान की ओर संकेत, वही 'अंधेरा' अज्ञानता एवं अशिक्षा का प्रतीक है। दोयम दर्जे की शिक्षा व्यवस्था के खिलाफ स्पष्ट अंकित करते हैं। कवि का कथन है, "वे नहीं जानते/दून स्कूल और नगरपालिका के विद्यालय/एक जैसे क्यों नहीं हैं। गाँधी इण्टर कालेज की कक्षाओं में टूटा-फूटा फर्नीचर/और हवा में झूलता बिजली का लट्टू। किस शिक्षा प्रणाली का प्रतीक है।"²⁹

ओमप्रकाश वाल्मीकि ने दलित मन की सामाजिक अपमान व उपेक्षा की पीड़ा को बड़ी संवेदनशीलता से अभिव्यक्ति दी है। यही कारण है कि कवि सामंतवादी मानसिकता, सामंतशाही, सामंती संस्कृति के खिलाफ अभिव्यक्ति देने में गुरेज नहीं करता है। "बंजरों खेतों से उठती लपटों से/सिर उठेंगे देवता/मृत्यु के विकराल जबड़ों में फंसी/संस्कृति की तमाम आत्मवंचनाएं/सिसक-सिसक कर/दोहराएंगी अतीत की/कुटिल आत्मघाती उक्तियां।"⁸⁰ उनकी संपूर्ण काव्य यात्रा दलित जीवन, समाज की झलक

मात्र है। वह सर्वत्र दलित जीवन की छवि देखते हैं। उनकी कविता 'वह मैं हूं' में स्पष्ट दिखाई पड़ता है, "मुंह अंधेरे बुहारी गयी सड़क में/जो चमक है/वह मैं हूं।"³¹ आगे वह प्राकृतिक संसाधनों, शोषित-पीड़ित मानवता में दलित जीवन की छवि मुखातिब करते हैं। कवि का अभिमत है, "पेड़ों में/नदी का जल/धूप-हवा में/श्रमिक-शोषित गंध/बाढ़ में बह गयी झोपड़ी का दर्द/सूखे में दरकती धरती का बांझपन/वह मैं हूं/सिर्फ मैं हूं।"³²

ओमप्रकाश वाल्मीकि ने भोगे हुए, जिए हुए यथार्थ को अपनी कविता को आधार दिया है, जिसे दलित आलोचक 'स्वानुभूति' कहते हैं। उनकी कविताओं में 'घृणा तुम्हें मार सकती है', 'सोचने नहीं देते', 'लेखा-जोखा' एवं 'कथावाचक' इत्यादि हैं। यही कारण है कि कवि बार-बार पूर्व दिनों की स्मृतियों को छोड़ नहीं पा रहा है, वह उन्हें याद करके संबोधित करते हुए कहता है। "चाहे संकीर्ण कहो या पूर्वग्रही/मैं जिस टीस को बरसों बरस/सहता रहा हूं/अपनी त्वचा पर/सूई की चुभन जैसे/उसका स्वाद एक बार चखकर देखो/हिल जाएगा पांव तले जमीन का टुकड़ा।"³³ प्यास बुझाने के लिए बचपन में उन्होंने जिन समस्याओं को सहन किया है। 'पानी' पीने की घटना को वह आत्मकथा 'जूठन' (1997) में भी वर्णित कर चुके हैं। कवि लिखता है, "चाय घरों में बैठकर/जब करते हो दार्शनिक विवेचन समाज व्यवस्था का/मुझे याद आते हैं/बचपन के दिन/जब प्यास लगने पर/खड़ा रहना पड़ता था घण्टों/किसी कुएं या नल के पास।"³⁴ वैसे तो संपूर्ण विश्व के लोगों में ईश्वर के प्रति आस्था और विश्वास है, बहुत कम लोग होंगे जो अनीश्वरवादी सोच के होंगे। ईश्वर के प्रति कवि का अगाध विश्वास था तभी तो वह शिवालय से दूर खड़े होकर ईश्वर से विनती करता है और समाज में व्याप्त छूत-अछूत भावना तथा कथित ब्राह्मण जिसे मंदिर का पुजारी कहते हैं उसकी दुत्कार भी सही है कवि ने। कवि का कथन है, "शिवालय के दरवाजे से दूर/खड़े होकर मांगी मन्नते/ सही दुत्कार बामन की/यह सोच कर/कभी तो खुलेगा दरवाजा/अपने लिए भी/भीतर सोया देवता/जागेगा किसी रोज/पी जाएगा विष/बाहर आकर।"⁸⁵

कवि की भावनाएं निराशावादी न हो आशावादी हैं। आशावादी प्रक्रिया से गुजरता हुआ कवि का अंतस भावविह्वलता तथा स्नेहिल स्वाभाव भी दृष्टिगत है। बदलते रिश्तों की खनक को महसूस करते हुए कहते हैं, “रिश्ते बनते हैं/तो पेड़ पर हरी पत्तियां गमक उठती हैं/रास्तों में बिखर जाती हैं खुशबू/रिश्ते टूटते हैं/तो खबर हो जाती है पेड़ को/चिड़िया उड़ जाती है/घोसलों में उदासी छोड़कर।”³⁶

बेखौफ, बेलौस, फक्कड़पन उनके जीवन बोध की विशेषता है, जिसे उनकी जीवन दृष्टि कहा जा सकता है। वह लिखते हैं, “मैं चाहता हूं/शब्द चुप्पी तोड़ें/सच को सच/झूठ को झूठ कहें।”³⁷ जीवन दृष्टि का विस्तार करते हुए कवि कहता है, “न जाने कितना दूध/बहा दिया तुमने नाली में/भूखे बच्चों से छीनकर/अरे, तुम्हारे इन्हीं कुकर्मों ने हमें/कंगाल बना दिया है।”³⁸ ‘अब और नहीं’ कविता में उनकी दृष्टि और साफ है। कवि ‘हताशा’, एवं ‘नैराश्य’ को हमेशा के लिए समाप्त कर देना चाहता है। तभी तो वह कहता है, “छद्म वेशी शब्दों का प्रलाप जारी है/सुन चुके अर्थहीन तर्कहीन तर्क भी/बहुत दिन जी चुके हताशा और नैराश्य के बीच/कलाबाजियों और चतुराई भरे शब्दों का/खेल हो चुका/अब और नहीं/तय करना होगा/कहां खड़े हो तुम/साये या धूप में।”³⁹

दलित लेखक; परंपरा जनित सौंदर्य मानकों का खण्डन करता है। वह भावसौंदर्य के स्थान पर वस्तुसौंदर्य का रूपांकन करता है। क्योंकि ओमप्रकाश वाल्मीकि दलितों के कुरूप यथार्थ का सजीव चित्रण कर एक ‘नये सौंदर्यशास्त्र’ के निर्माण की मांग करते हैं। ‘सत्य की परिभाषा’ में वह ‘नये सौंदर्य’ के मूल्यों, मानकों को रचते हैं। तभी तो कहते हैं, “कुछ साल/कुछ महीने/या कुछ दिन ही सही/संग-साथ रहकर देखो/क्या होता है/जिंदगी का सत्य/तभी बता पाओगे सही-सही/जो सत्य है/क्या वही शिव है/और सुंदर भी।”⁴⁰

कवि के लेखन में राजनीतिक, सांप्रदायिक मुद्दे न के बराबर दिखाई पड़ते हैं। कारण हो सकता है भारतीय राजनीति का चेहरा ओमप्रकाश वाल्मीकि को कम पसंद आया हो। हालांकि राजनीति ने समाज में ‘जाति’ की राजनीति को बढ़ावा दिया है। यही कारण है प्रत्येक ‘जाति’

के अपने राजनेता उभरकर राजनीति में आ रहे हैं। मुझे लगता है कवि का राजनीति से मोहभंग हो गया है। जिससे उनकी कविताओं में राजनीति के स्याह पक्ष को स्पष्ट नहीं किया जा सका है। ‘आंदोलन’, ‘हमलावर’, ‘जहर’ आदि कविताओं में इस रूप को समझा जा सकता है।

ओमप्रकाश वाल्मीकि की कविताओं का शिल्प पक्ष ‘छंदमुक्त’ है। वह सपाट और सीधे सरल लहजे में कही गई हैं। अलंकृत, चमत्कृत कर देने वाली भाषा नहीं है। उनके अपने भाव-भाषा, प्रतीक, बिंब हैं जो अनगढ़ हैं जिन्हें प्रचलित हिंदी कविता के मानकों पर कसा नहीं जा सकता है। उन्होंने रोजमर्रा की जिंदगी से संबंधित बिंबों, प्रतीकों को अपने काव्य का विषय बनाया है। ये बिंब ‘प्रयोगवादी कविता’, एवं ‘नई कविता’ से अलग हैं। ओमप्रकाश वाल्मीकि कहते हैं, “मेरे जिस्म के मानचित्र पर/उभर रहे हैं/बनकर फफोले/कहीं बेलछी/तो कहीं शेरपुर, कहीं पारस बिगहा/ तो कहीं नारायणपुर/इन फफोलों को सहलाने के लिए/मेरे हाथ मेरे पास नहीं हैं/वे तो बहुत पहले/मेरे बाप-दादों ने/रख दिये थे गिरवी/किसी सेठ-साहूकार की तिजोरी में/ दो मुट्ठी चावल के बदले।”⁴¹ ‘जिस्म’, ‘फफोले’, ‘बेलछी’, ‘गिरवी’, ‘दो मुट्ठी चावल’ शब्द निम्नवर्णीय आर्थिक व्यवस्था को प्रकट कर रहे हैं। वहीं ‘फफोले’ शब्द दर्द, पीड़ा, टीस को उभारता है।

कवि ने ऐतिहासिक प्रतीकों के अंतर्गत ‘शंबूक’, ‘एकलव्य’ आदि को लिखा है। क्योंकि ये उनके अप्रतिम नायक हैं। कवि कहता है, “यहां गली-गली में/राग है/शंबूक है/द्रोण है/एकलव्य है/फिर भी सब खामोश हैं/कहीं कुछ है/जो बंद कमरों से उठते क्रंदन को/बाहर नहीं आने कर देता है/ रक्त से सनी उंगलियों को महिमा मंडित।”⁴²

सरस, सरल भाषा के साथ उनकी अपनी निजी भाषा जीवन के नजदीक दिखाई पड़ती है। कवि कहता है, “अच्छी लगती है चिड़िया/और उसका चहचहाना/उससे भी ज्यादा अच्छा लगता है/बच्चों का खिलदंडपन/और उनकी शरारतें।”⁴³ उनकी कविता कहने या लिखने की अलग स्टाइल है। कवि लिखता है, “भीतर एक बेचैनी है/धूप-सी दहकती हुई/जिसे मैं दुख कहना भी चाहूं/तो भी कह नहीं पाता हूं/दुख तो पुरानी बंधी किताबों-सा/बंद पड़ा है/

एक कोने में।''⁴³ भाषा की सजीवता ने उनकी कविता को आगे की ओर बढ़ा दिया है। कवि का कथन है, ''कुशती कोई भी लड़े/ढोल बजाता है सिमरु ही/जिसके सधे हाथ/भर देते हैं जोश पूरे दंगल में।''⁴⁴

ओमप्रकाश वाल्मीकि की कविता में दलित-संवेदना, भोगे हुए सामाजिक जीवन का प्रतिफलन, दलित-एकालाप का स्पष्ट स्वर सुनाई पड़ता है। काव्य-शिल्प दलित, बिंबों, प्रतीकों, भाषा की नई बुनावट के साथ दलित कविता का विस्तार किया है।

संदर्भ:

1. सदियों का संताप: ओमप्रकाश वाल्मीकि, गौतम बुक सेन्टर, शाहदरा, दिल्ली, संस्करण 2008, पृ० 24
2. बस्स! बहुत हो चुका: ओमप्रकाश वाल्मीकि, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, संस्करण 1997, पृ० 15
3. वही, पृ० 100
4. सदियों का संताप: ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ० 28
5. वही, पृ० 34
6. बस्स! बहुत हो चुका: ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ० 24
7. अब और नहीं: ओमप्रकाश वाल्मीकि, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा० लि०, अन्सारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली, संस्करण 2009, पृ० 51
8. वही, पृ० 94
9. वही, पृ० 42
10. सदियों का संताप: ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ० 41
11. बस्स! बहुत हो चुका, पृ० 34
12. अब और नहीं, पृ० 37-38
13. सदियों का संताप, पृ० 27
14. बस्स! बहुत हो चुका, पृ० 80
15. अब और नहीं, पृ० 12
16. बस्स! बहुत हो चुका, पृ० 32
17. सदियों का संताप, पृ० 8
18. वही, पृ० 49
19. अब और नहीं, पृ० 96
20. वही, पृ० 102
21. बस्स! बहुत हो चुका, पृ० 78
22. अब और नहीं, पृ० 20-21
23. वही, पृ० 82
24. आधुनिक साहित्य में दलित विमर्श: देवेन्द्र चौबे, ओरियंट ब्लैकस्वान प्रा० लि०, 1/24, आसफ अली रोड, नई दिल्ली, संस्करण 2009, पृ० 188
25. सदियों का संताप, पृ० 17
26. वही, पृ० 23
27. बस्स! बहुत हो चुका, पृ० 83-84
28. दलित साहित्य एक मूल्यांकन: प्रो० चमन लाल, राजपाल एण्ड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली, संस्करण 2009, पृ० 69
29. बस्स! बहुत हो चुका, पृ० 74
30. वही, पृ० 16
31. वही, पृ० 17
32. वही, पृ० 30
33. वही, पृ० 56
34. वही, पृ० 9-10
35. वही, पृ० 75
36. वही, पृ० 49
37. वही, पृ० 52
38. अब और नहीं, पृ० 105
39. बस्स! बहुत हो चुका, पृ० 101
40. सदियों का संताप, पृ० 14
41. वही, पृ० 26-27
42. बस्स! बहुत हो चुका, पृ० 91
43. अब और नहीं, पृ० 70
44. वही, पृ० 106

संपर्क :

ढिंढुई, पट्टी, प्रतापगढ़, उत्तर प्रदेश-230138,

मो०: 9451143511

भारतीय समाज और अल्पसंख्यक समुदाय

मधुरेश

कथालोचना के क्षेत्र में विशिष्ट ख्यातिलब्ध, अब तक आलोचना एवं संस्मरण की लगभग 50 पुस्तकें प्रकाशित। सुप्रसिद्ध कथाकार यशपाल पर इनकी प्रकाशित पुस्तकें विशेष चर्चित रही हैं।

भारत का इतिहास इस बात का साक्षी है कि यहाँ विभिन्न धर्मों, सम्प्रदायों एवं मतों के लोग सदियों से रहते आए हैं। रवीन्द्रनाथ की एक कविता में विभिन्न विदेशी नस्लों एवं जातियों कुषाण, हूण, ग्रीक, मंगोल आदि के भारत आने और फिर यहीं बस जाने का भावपूर्ण स्मरण हुआ है। इसने सांस्कृतिक अन्तरावलम्बन और सामाजिक संस्कृति की एक अबाध प्रक्रिया को जन्म दिया। देश की स्वाधीनता और गणतंत्र की स्थापना के बाद हमारा संविधान भी अल्पसंख्यक समुदायों को समान नागरिक अधिकारों एवं सुविधाओं की घोषणा करता है। इन अल्पसंख्यक समुदायों में मुसलिम, ईसाई, यहूदी, सिख आदि प्रमुख हैं। इन अल्पसंख्यक समुदायों में संख्या की दृष्टि से मुसलिम सबसे बड़ा होने से देश की राजनीति में भी एक सुविधाजनक स्थिति में रहा है। इसीलिए जब तक विभिन्न राजनीतिक दलों द्वारा विरोधी दलों पर मुसलिम तुष्टिकरण का आरोप भी लगाया जाता रहा है। लेकिन पिछले दो दशकों में बाबरी मस्जिद के ध्वंस, आतंकवादी गतिविधियों का उभार और साम्प्रदायिक उन्माद के अभूतपूर्व प्रसार के कारण स्थिति काफी बदली है। मुसलिम समुदाय के उसकी ज़द में आने के प्रभाव पर केंद्रित रचनाओं का भी अभाव नहीं रहा है। यहाँ दो अल्पसंख्यक समुदायों— मुसलिम और यहूदी— पर केंद्रित दो उपन्यासों को आधार बनाकर इन समुदायों के सच को देखने-समझने की कोशिश की गई है। इन उपन्यासों में एक प्रियदर्शन मालवीय का 'घर का आखिरी कमरा' और दूसरा शीला रोहेकर का 'मिस सैम्युएल एक यहूदी गाथा' है। दूसरे की लेखिका स्वयं उसी समुदाय से हैं और यह अंतर इन रचनाओं की निर्मिति पर भी स्पष्ट परलक्षित किया जा सकता है।

प्रियदर्शन मालवीय के 'घर का आखिरी कमरा' के केन्द्र में मुख्यतः अमजद और उसका परिवार होने पर भी वह अपनी समूची पीढ़ी के मुसलिम युवाओं का प्रतिनिधि पाना है। यह आशंका, असुरक्षा और बेरोजगारी का शिकार पीढ़ी है जो अपने सपनों एवं अस्तित्व के बीच एक गहरी और न भरी जाने वाली फाँक अनुभव करती है। इसी में इशरत मियाँ उर्फ अफ़लातून जैसे लोग भी शामिल हैं जो अमजद का रोल मॉडल होने पर हताशा के अँधेरे में तिरते तिल-तिल मरने को अभिशप्त हैं।

अफ़लातून जैसे युवा इस हताशा से उपजी असफलता के प्रतीक पात्र हैं जिसके मरने की मनहूस खबर से उपन्यास की शुरुआत होती है।

आठ भाई-बहनों वाला अमज़द मियाँ का बड़ा-सा परिवार है, अब्बा की मामूली-सी नौकरी के सहारे जीता-पलता। ज़हीन होने के बावजूद उसे साइंस छोड़नी होती है क्योंकि अफ़लातून का हस्र वह देखता रहा है। उसने हिंदी में एम.ए. किया है। मुसलमान हिंदी कवियों के प्रसंग में 'मुसलमान होकर भी' कहने पर वह गहरा एतराज जताता है। उसका तर्क है कि क्या हिंदुस्तानी संस्कृति उनकी अपनी संस्कृति नहीं है। अमीर सुखरो से लेकर जायसी, रसखान और रहीम तक जिन मुसलमान कवियों पर भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने कोटिक हिंदुओं को वारने की बात कही थी उस इस्लामी संस्कृति एवं मिथकों पर कितने हिंदू कवियों ने लिखा है? यह एक दुःखद सच्चाई है कि सदियों से इतने पास रहकर भी हम उनके इतिहास, संस्कृति, धर्म, तीज-त्योहारों आदि के बारे में बहुत कम जानते हैं।

अमज़द को मुसलमानों को आतंकवादी माने जाने और सब कहीं शंका की दृष्टि से देखे जाने पर भी ऐतराज है। कॉलेज में अमज़द मियाँ का चौगट- चौगड़डा- था गैंग ऑफ फोर। इसमें ओ.पी. सिंह, नागेश, खन्ना के अलावा स्वयं अमज़द था। इसमें नागेश ने शहर में दंगा होने पर स्वयं हल्लन मियाँ या अमज़द के अब्बा के घर में छिपकर प्राण-रक्षा की थी। इसी के प्रभाव में अमज़द कम्युनिस्ट और नास्तिक बना था। इसमें आगे चलकर ओ.पी. सोशलिस्ट बना और खन्ना कांग्रेसी कॉलेज में एक रैगिंग के बाद जिससे उसकी दोस्ती हुई थी।

परिवार में अमज़द की जगह और हैसियत जाने-अनजाने उसकी लंबी बेरोजगारी और दुनियावी असफलता से उत्पन्न हताशा से तय हो जाती है। इस हताशा के बढ़ते साये को देख अब्बा की तलखी और कठहुज्जती भी उसे उसी अंजाम की ओर ठेलती है जिसका हस्र वह अफ़लातून के प्रसंग में देख चुका है। अब्बा से हुई कहा-सुनी के नतीजे के तौर पर घर छोड़ने का उसका निर्णय जैसे उसे दुनिया के बीचोबीच ला खड़ा कर देता है। लंबी बेरोजगारी और आकस्मिकता के बीच घर छोड़ने के उसके निर्णय के

बावजूद बम्बई या दिल्ली तक के किराए की व्यवस्था और फिर वहाँ गुज़र-बसर के लिए माकूल साधनों की पर्याप्तता वैसी विश्वसनीय नहीं लगती। 'मस्त गगन' समूचा अध्याय वस्तुतः दिल्ली में उसके अनुभवों का एक लंबा सिलसिला है जिसमें अपनी कौम और कॉलेज के दिनों के ओ.पी. जैसे साथियों का वर्तमान भी शामिल है। कुछ नए दोस्तों और पश्चिम के आधार पर ट्यूशन के सहारे जब उसकी जिंदगी एक ढर्रा पकड़ती दिखायी देती है, मोटर चलाना सीखने के दौरान घटित दुर्घटना फिर उसका जीवन बदल देती है। दुर्घटना का साम्प्रदायिक पहलू उसका मुसलमान होना, फिर से उसे दिल्ली छोड़ने को मजबूर करता है। लेकिन दिल्ली प्रवास के उसके अनुभव उसके सोच में बहुत कुछ जोड़ते हैं। जामिया मिलिया में एम.बी.ए. करने पहुँचा उसका इलाहाबादी दोस्त महफूज बड़े हिंदू दोस्तों की चमचागीरी करते चमन भाई खाला के यहाँ उनके पोते के खतने का समारोह और मुसलिम समाज की रिवायतें, बम विस्फोट और बाटला हाउस की मुठभेड़ आदि के प्रसंगों के कारण हिंदू दरोगा की चकाचक जो किसी भी मुसलमान से सिर्फ उसके मुसलमान होने के सबब से ही कुछ भी करने से आज्ञाद है। भारतीय पुलिस का यह साम्प्रदायिक चरित्र कहीं न कहीं विभूति नारायण राय के शोध-प्रोजेक्ट 'साम्प्रदायिक दंगे और भारतीय पुलिस' से प्रेरित और प्रभावित है जिनसे लेखक के आत्मीय एवं पारिवारिक संबंध रहे हैं। अब्बा और परिवार के अन्य लोगों का दिल्ली पहुँचकर उससे घर वापसी का उनका आग्रह अंततः फिर उसे पुरपेच गलियों वाले अपने शहर में वापस ले आता है।

अमज़द के घर में घुसते-घुसते ही जहूर फुसफुसाहट के लहजे में उसे हाजी नूरद्दीनकाज़मी के लड़के का कल पुलिस द्वारा किए गए एनकाउंटर की खबर देता है। उसे टेररिस्ट बताकर कहा गया कि वह विश्वनाथ मंदिर में बम विस्फोट में शामिल था। बरामदगी में उसके पास मंदिर का नक्शा और चीनी हथियार दिखाए गये थे। जिस डर के कारण उसने दिल्ली छोड़ी थी, वह डर जैसे उसके साथ उसकी उजाड़ गली में घुसा है। उसका पुराना सवाल फिर जैसे सिर उठाता है- हर धमाके के बाद मुसलमान की ही

पकड़ा-धकड़ी क्यों शुरू हो जाती है? मकान के सब हिस्से भाइयों ने पहले से ही कब्जियाये हुए हैं। जिन भाइयों ने अपने मकान बनवा लिये हैं वे भी उनमें रहने न जाकर यहीं जमें हैं और नये मकानों को किराए पर उठा रखा है। घर का आखिरी कमरा, जिसमें फालतू काठ-कबाड़ भरा रहता था, जरूरत पड़ने पर जब-जब उसकी साफ-सफाई के बाद किसी आने वाले मेहमान के लिए तैयार कर लिया जाता था, वही उसे दे दिया जाता है। घर-परिवार और समाज में उसकी हैसियत का प्रतीक वह कमरा ही जैसे अमजद के वर्तमान और भविष्य पर एक सार्थक टिप्पणी बन जाता है।

बरसों पहले कभी उसके नाम से कारखाने के लिए लिया गया कर्ज अब भी उसी के नाम चढ़ा है। कारखाना और वह ज़मीन कब के इधर-उधर हो चुके हैं। उसके घर में घुसते ही अमीन समन देते हुए उसे कचहरी चलने पर ज़ोर देते हैं, जो फिलहाल गली के दबाव के कारण हो नहीं पाता। जब दुबई में किसी कम्पनी में स्टोर कीपर की जगह का सवाल उठता है, बेकारी से मुक्ति के जोश में वह उसके लिए भी हामी भर लेता है। मुसलमान के लिए जैसे अपने देश में नौकरी की हज़ार दिक्कतें हैं, दुबई के लिए पासपोर्ट और उसकी प्रक्रिया में भी अनेक दुश्वारियाँ हैं। अब्बा की मजबूरी उससे छिपी नहीं है। बेशक दशरथ चाचा अभी भी इस सबमें आए खर्च की व्यवस्था कर सकते हैं लेकिन उनसे पहले का लिया पैसा ही वापस नहीं किया जा सका है। भाभी की अपने से बड़ी तलाक़शुदा चेचकरू और एक बच्ची की माँ बन चुकी बहन से शादी की हामी भी वह भर लेता है।

अब्बा और दशरथ चाचा जैसे अपने-अपने ढंग से वाजिद सहरी की उस नज़्म पर अमल करते रहे हैं जिसमें दो मित्र कौमों के दोस्त एक-दूसरे की दीवाली और ईद सांझा करने की पेशकश करते हैं। देश की आजादी के अवसर पर मौलाना आजाद ने जो संदेश यहीं रह गये मुसलमानों को दिया था, अपने ढंग से वह भरसक उस पर अमल की कोशिश करता रहा है। लेकिन इस सबका हासिल क्या है? पासपोर्ट के लिए जब वह भाग-दौड़ कर रहा होता है, सामने वाले अमीन दफ्तर में फिर उससे

टकराते हैं। फिर तहसील की छह बाई दस की कोठरी ही उसकी जिंदगी का सच बन जाती है।

प्रियदर्शन मालवीय के उपन्यास की इस सुविस्तृत व्याख्या के बाद यह सवाल पूछा जा सकता है कि यह मुसलिम कितनी विश्वसनीय एवं अन्तरंग बनकर उभरी है? प्रियदर्शन उस दुनिया के अंदरूनी और अंतरंग हिस्सों तक हमें नहीं ले जाते मुसलिम लेखकों के यहाँ घर की दुनिया अपने रंगों एवं गंधों के साथ सामने आती है। 'घर का आखिरी कमरा' अन्तरंगता की खास गंध तक हमें नहीं ले जाता। यहाँ सब कुछ जैसे बने बनाये- रेडीमेड निष्कर्षों से निर्धारित और संचालित है। यहाँ मुसलिम मुहावरे को पकड़ सकने की कोई दुश्वारी या चुनौती ही जैसे लेखक के यहाँ नहीं है। हिंदी में अपने एम.ए. के कारण अमजद काफी कुछ उस मुहावरे की भाषा गत चुनौती से मुक्त है। उसके घर परिवार में बोली जाने वाली बोली भाषा ऐसी है जिससे इस मुहावरे की कोई दुश्वारी स्पष्ट नहीं है। इस भाषा का एक प्रतिनिधि रूप बाबरी मस्जिद के ध्वंस पर अमजद के अब्बा और लताफत चाचा के बीच का संवाद और ब्यौरा है, *"थोड़ी देर दोनों खामोश एक-दूसरे को देखते रहे फिर लताफत चाचा बोले, 'आज से हिंदुस्तान का इतिहास बदल गया है। हिंदुस्तान का इतिहास अब लिखा जायेगा तो लिखा जायेगा- मस्जिद ध्वंस के पहले का हिंदुस्तान और ध्वंस के बाद का हिंदुस्तान, सेक्युलर हिंदुस्तान और साम्प्रदायिक हिंदुस्तान। हमारी कौम इस देश में विजेता के रूप में आई थी, आज खुद को हारा हुआ महसूस कर रही है...।'"* (वही, पृ. 44) अब्बा का रोना और बड़बड़ाना अमजद को विस्मयकारी लगता है। उपन्यास में अमजद के वर्णन एवं ब्यौरों के दो स्पष्ट स्तर हैं। दिल्ली जाने से पहले और फिर उसकी वापसी के बाद। वापसी के बाद उसके प्रति बढ़ी हुई आत्मीयता उसे कहीं अंदर से छूती है। लेकिन भाइयों-भाभियों की क्षुद्रतायें, घर-गृहस्थी का स्वार्थ और छोटी-छोटी बातें किसी खास मुसलिम परिवेश की गंध नहीं देती।

मुसलिम युवाओं की समस्या में, असुरक्षा और भविष्यहीनता- सबकुछ एक स्टॉक और रेडीमेड समस्या का हिस्सा जैसा है। परिवार की निजता और अन्तरंगता के

लिए उसमें कोई खास जगह नहीं है। दिल्ली में खाला के यहाँ पोते की खतने की रस्म में मुसलिम रिवाजों पर की गई टिप्पणी भी किसी गहरी अन्तरंगता का अहसास नहीं कराती। अब तो अरब और अफ्रीकी मुल्कों की स्त्रियाँ भी खतने की इस बर्बर और अमानुषिक रिवायत के विरुद्ध आवाज उठा रही हैं। प्रियदर्शन मालवीय के उपन्यास की सबसे बड़ी सीमा कदाचित् सहानुभूति के स्तर से उसका बाहर न जा पाना है। उसकी रचनात्मक ज़िद ही उसकी रचनात्मकता की सीमा भी है।

भारत में अल्पसंख्यक होकर भी मुसलिम समुदाय इस मायने में बेहतर स्थिति में है कि संख्या की दृष्टि से वह सबसे बड़ा अल्पसंख्यक समुदाय है। मुसलिम जनसंख्या की दृष्टि से भारत विश्व में दूसरा देश है। इसलिए राजनीतिक दृष्टि से उनकी एक विशिष्ट हैसियत है। प्रायः ही इस समुदाय को लेकर राजनीतिक पार्टियों पर मुसलिम तुष्टिकरण का आरोप भी लगता है क्योंकि उनका वोट हार-जीत में एक बड़ा कारण बनकर सामने आता है। लेकिन अन्य अल्पसंख्यक समुदायों में यहूदियों और ईसाइयों के साथ यही स्थिति नहीं है। वे सचमुच अल्पसंख्यक हैं और उपेक्षित समुदाय हैं। इसी अनुपात में इन समुदायों में लेखक भी कम हैं और इन समुदायों को केन्द्र में रखकर लिखा भी कम गया है। शीला रोहेकर का 'मिस सैम्युएल: एक यहूदी गाथा' इस दृष्टि से एक उल्लेखनीय उपन्यास है कि यह यहूदी समुदाय पर केंद्रित है और अल्पसंख्यक समुदाय के नाते उसकी मानसिकता और समस्याओं को अंकित करता है। शीला रोहेकर के स्वयं इसी समुदाय से होने के कारण इस काम को प्रामाणिकता एवं विश्वसनीयता के साथ किया जा सका है।

उपन्यास के केन्द्र में मुख्यतः सीमा सैम्युएल और प्रकारान्तर से उसके परिवार की तीन पीढ़ियाँ हैं। लेकिन उसकी पृष्ठभूमि में यहूदी समुदाय का वह इतिहास भी है जिसमें पुरखे प्रायः दो हजार वर्ष पूर्व भारत आए थे। वह अकारण नहीं है कि अपनी मूल धरती पर लौटने का सपना हर यहूदी देखता है लेकिन वह सपना सपना बनकर ही रह जाता है। चूंकि संख्या की दृष्टि से वह बहुत अल्पमत समुदाय है, अपने ही समुदाय में शादी विवाह की समस्या

भी पेश आती है। समुदाय के बाहर भी विवाह के उदाहरण मिलते हैं, लेकिन भिन्न जीवन शैली और सांस्कृतिक अंतर के कारण ये विवाह प्रायः ही असफल और बेजोड़ साबित हुए हैं। यही कारण है कि मिस सैम्युएल कुंवारी होकर भी बूढ़ी हो चली है। समुदाय की लड़कियों का शायद यह दुख देख समझकर ही डायना आज्जी कहती थी, 'स्त्री की लंबी एकाकी उम्र उसके जीवन की सारे सुखों, यादों को कुतर देती है। सुकड़ती हड्डियों के कारण संघों से मन की खुशी रिस जाते हैं और अपना सूनापन देखने के लिए धुंधलाती दृष्टि बची रहती है...' (सीमा सैम्युएल: एक यहूदी गाथा, पृ. 22) सीमा उम्र के जिस पड़ाव पर है, एक-एक कर परिजनों के बिछोह के बाद हताश और एकाकी, डायना आज्जी की यह बात रह-रहकर उसे याद आती है।

आर्थिक दृष्टि से भी यह एक विपन्न समुदाय है क्योंकि समाज की मुख्य धारा से अलग-थलग रहने के कारण शिक्षा और नौकरियों पर उनकी पकड़ भी बहुत सीमित रही है। डेविड रूबेना के जवान होते बेटे सैम को, अपनी घिस चुकी हाफ पैंट के लिए संडास की दीवार पर लिखकर फरियाद करनी होती है। डायना को अपने गुस्सैल मुच्छड़ पति को बेटे के जवान होने का वास्ता देकर उसकी सिफारिश करनी होती है। मिस सीमा सैम्युएल से पहले भी परिवार में लड़कियाँ कभी सुखी नहीं रही। लिली को पिता ने जहर देकर मारा था क्योंकि उसने नाक कटवा दी थी। डायना अभी भी जब-तब इशारे से उसे बुलाती है जैसे अँधेरे में वह सामने खड़ी है। रेचल का विकलांग बेटा- राफू राफेल अपनी माँ के नाते आधा तो यहूदी है ही। रेचल ने शादी जरूर की, लेकिन जिसे सुख कहते हैं, क्या वह उसे मिला? राफू को छोड़कर भरी जवानी में ही चली गई। इसके बाद सीमा सैम्युएल ने ही माँ की तरह उसे पाला-पोसा और राफू उसे ही अपनी माँ समझता था। एक विकलांग और मंदबुद्धि बालक जो शरीर से बढ़कर भी बहुत छोटे बच्चे की तरह व्यवहार करता था।

डेविड रूबेन के परिवार का ढांचा पूरी तरह पितृसत्तात्मक है। पत्नी और बच्चे उससे बेहद डरे और सहमे रहते हैं। अपने मन की कोई बात वे उसे बता नहीं सकते। घर में

बना गोश्त लड़कियों- लिली और रूथ को बहुत कम मिलता है। सैमु भी लालची निगाहों से गोश्त को पकते देखते रहता है। माँ को पटाकर बनते-बनते ही चखने के बहाने वह थोड़ा-सा ले लेता है। माँ नहीं चाहती कि रात में पापा के खाते समय थाली फेंकने की नौबत आए, 'सड़बड़ खाता सैम गोश्त का वैसा स्वाद कभी नहीं भूलेगा। उसे पता है कि पापा को सबसे अधिक मिलता है क्योंकि वे घर के मुखिया हैं, कमाऊ हैं। वह भी जब बड़ा होकर पापा की तरह अपनी गृहस्थी संभालेगा, तब सबसे बड़ा हिस्सा उसे मिलेगा। और यदि उसे भी लड़कियाँ हुईं तो वह भी उन्हें गरिष्ठ भोजन कम देगा क्योंकि वह जान चुका है कि ऐसा भोजन खाने से लड़कियाँ जल्दी जवान हो जाती हैं और ऊँच-नीच में पाँव रखती खानदान की नाक कटवा देती हैं...(वही, पृ. 33) जवान होती लड़कियों वाली यह समस्या सिर्फ यहूदी समुदाय का ही सच नहीं है। पड़ोस में तहमीना के नौकर रामू के साथ भागने की घटना और फिर पकड़े जाने पर अगले दिन कमरे में लटकी तहमीना की लाश का असर उसके अपने परिवार में भी फैलता है। हादसे के बाद पापा ने सीमा के लिए फ़रमान जारी किया था- बाहर निकली तो टांगें तोड़ दी जायेंगी। लड़कियों से उलट लड़के परिवार की नाक ऊँची करते हैं। बड़े बेटे डेनियल ने अहमदाबाद में अपना क्लीनिक खोलकर पूरे समाज में उदाहरण पेश किया है। यहूदियों में वह पहला लड़का था जो उच्च शिक्षा के लिए अमेरिका गया। शीला रोहेकर बहुत सजगता पूर्वक यहूदी-समुदाय का एक स्त्री पाठ तैयार करती हैं।

अल्पसंख्यकों में भी अल्पसंख्यक यह यहूदी समुदाय बम्बई के आस-पास महाराष्ट्र और गुजरात में बसा है। सांप्रदायिक उभार के दौर में यह समुदाय भी उसका शिकार होने से बच नहीं पाता। घर में बहू के रूप में आयी ज्योत्स्ना प्रजापति, जो शुरू में अपने शिष्ट एवं शालीन व्यवहार से सबको प्रभावित करती है, धीरे-धीरे अपना वास्तविक रंग दिखाती है। वह ऐसे परिवार से आयी है जिसका हिंदुत्व से गहरा रिश्ता है और उसके एक संगठन से उसका गहरा जुड़ाव है। वह घर की चौखट पर लगे मेजज़र को निकाल देती है। उसका तर्क है कि उसके

कारण पूरी कॉलोनी में घर सबसे अलग दिखता था। अब कॉलोनी के और घरों की तरह देवी-देवताओं का भी बास हो जायेगा।

यह वस्तुतः वही दौर है जब देश में सोमनाथ मंदिर से अयोध्या के लिए आडवाणी की रथयात्रा शुरू हुई थी। दूरदर्शन पर रामानंद सागर का धारावाहिक 'रामायण' एक इतिहास रच रहा था। घर की व्यवस्था संभालते ही ज्योत्स्ना मंगलवार को नाश्ते में अंडे बंदकर देती है और इस पर बावला मचाने पर वह ससुर की खासी फजीहत करती है। फिर ऐसा समय भी आता है जब बहुत गुप-चुप ढंग से घर इसी हिंदूवादी संगठन के लोगों के हाथ बेच दिया जाता है। उसके आदमी आकर उसे खाली करने का फरमान सुनाते हैं क्योंकि वहाँ संगठन का कार्यालय खुलना है। वस्तुतः इसी अफ़रा-तफ़री और घोर अराजकता वाले दौर में सीमा सैम्युएल एक बूढ़ी होती कुंवारी- ओल्ड मेड- के रूप में एक वृद्धाश्रम में अपना ठौर ढूंढने को मजबूर होती है।

अकेले रहने का सीमा का लंबा अभ्यास है। उसकी भतीजी मिली ने बहुत चाहा कि आत्या-बुआ- उसके पास रहे। लेकिन सीमा इसके लिए तैयार नहीं होती। परिसर से आये फोन के बाद वह उसे देखने वहाँ पहुँचती है, पता चलता है कि उसे दिल का हल्का दौरा पड़ा है। मिली की माँ सारा को लगता है कि उसकी बेटी पर आत्या सीमा की छाया पड़ी है। उसने सीमा के रंगीन मिजाजी के भी ढेरों किस्से सुने हैं लेकिन इन आरोपों को उसने कभी हवा नहीं दी। अपनी सोच, समाज, संस्कार, स्वभाव, परम्पराओं और धर्म को कैसे आहिस्ता-आहिस्ता अलगाया जाता है, सीमा जानती है। सांस-सांय करता डोंगर-जंगल- किसी के अंदर यों ही नहीं बस जाता 'सीमा जानती है दवाबों का शोर। उसे पता है कि राफू के रहने और जाने का दर्द। उसे याद है प्रेम करने का उन्माद या संयोगों और कारणों वश उसे खोने का हाहाकार। पूरे परिवार के छिटककर एकाकी हो जाने के संताप को उसने छिपाया है अपने भीतर, शायद इसीलिए चुप होती वह इतने गहरे चली गयी है...' (वही, पृ.185)

बारह की उम्र में वह अपने होठों पर सोहराब के होठों की छुअन को क्या कभी भूल सकी? शर्त हारकर चांदी

का रूपया देने की बजाय चलते समय उसने सिर्फ पीतल की एक दुअन्नी उसे दी थी। अरसे तक उसने ऐहतियात से उसे संभालकर जतनपूर्वक रखा था। अपने खत में सोहराब ने उसे 'पारो' लिखा था, अपने देवा को न भूलने के आग्रह के साथ। फिर स्कूल पहुंचने पर राघव की दी हुई मणि पिता द्वारा देख लेने पर उनका थप्पड़ भी उसे याद है और उनकी दी गई चेतावनी भी...लवला-लवली के लिए स्कूल भेजा था? परिवार के हर बुजुर्ग की तरह आखिरकार इज्राइल लौटने का सपना क्या उसके अपने खून में भी बह रहा है?...लेकिन वह ही सैम्युएल डेविड का अपने और डेविड के साथ इज्राइल जाने का सपना कहाँ पूरा कर सकी? सपना किसका पूरा हुआ है?...

वृद्धाश्रम-परिसर-जहाँ परिवार के बिखराव के बाद बेघर सीमा पहुँचती है, यूँ तो कथानक का एक अनिवार्य हिस्सा है लेकिन वह हमारे समय का एक बड़ा सच भी है जिस पर इधर हिंदी में भी पर्याप्त लेखन हुआ है। परिसर के बीस कमरों में भारतीय समाज के विभिन्न समुदाओं एवं धर्मों की स्त्रियाँ हैं। उनकी उदासी, अकेलापन, अवसाद और तिल-तिल छीजने की प्रक्रिया को लेखिका ने बहुत संवेदनशील ढंग से अंकित किया है। परिवार और 'अपनों' से दूर जिनके कारण ही वे वस्तुतः इस स्थिति को पहुँची हैं। व्यक्ति बीच में चला जाता है, कमरा फिर भर जाता है। लेकिन सीमा और अमीना जैसी स्त्रियों के लिए कहीं कुछ नहीं बदलता। दोनों के बीच किशोरावस्था और स्कूली दिनों की ढेरों स्मृतियाँ हैं लेकिन विश्व राजनीति में इज्राइल की मुसलिम विरोधी भूमिका को देखते एक दिन अमीना सीमा पर बेवजह भड़क उठती है। उसके बाद वह कमरे के बाहर भी नहीं आती। खाना भी कमरे में ही मंगवाती है या जब-तब नहीं भी खाती।

परिसर में अमीना के आने और फिर परिचय के बाद पता चलता है कि वह किशोरावस्था में स्कूल में सीमा के साथ थी- खिलंदरी और बेहद बातुनी लड़की। वह आज बुत की तरह एक चुप और गुमशुम स्त्री में बदल चुकी है जैसे उसकी आवाज ही किसी ने छीन ली हो...' हाड़-मांस के लोग कैसे धीरे-धीरे अपने पैरहन उतारते जाते हैं और एक दिन सायों में परिवर्तित हो जाते हैं

बेआवाज़...परछाईयाँ...(वही, पृ.117)

सीमा जब सारे निष्कर्षों का आधार मनुष्य की मनःस्थिति बताती है, अमीना पूछती है, 'मनःस्थिति क्या है?' फिर वह स्वयं ही उत्तर भी देती है, 'जिस मनःस्थिति को तुम दोषी मान रही हो वह उन्हीं यानी कि विश्वास और आस्था के टूटने से बनती है।' गुजरात और गोधरा के दंगों में अपने समूचे परिवार के ध्वंस की बात वह भूल नहीं पाती। मुसलिम विरोध का कोई प्रसंग उसे टेलकर जैसे वहाँ ले आता है। गहरे अवसाद की स्थिति में नींद की गोलियाँ लेकर अन्ततः वह उसी परिसर में हमेशा के लिए सो जाती है। अमीना की आँखें सीमा को ऑपरेशन टेबल पर पड़ी रेचल की आँखों जैसी लगती हैं जैसे तब रेचल की आँखें मृत तहमीना की बेजान आँखों जैसी लगी थीं। अमीना शास्त्रों में किसी धुन्धु राक्षस का जिक्र करती है, जिसकी ली गई सांसों से धुआँ और अंगारे बरसते थे। जब कोई धुन्धु आता है, यही होता है। अब भी उसका अमदाबाद ऐसा ही हो गया था।

कथा मुख्यतः सीमा सैम्युएल पर केंद्रित है जो प्रायः उसी के दृष्टि बिंदु से उसी के द्वारा लिखी भी गई है। लेकिन बहुत से प्रसंग ऐसे भी हैं जिनकी न वह साक्षी है, न ही भोक्ता। उसने उन्हें अपने परिवार में सुना और जाना है और जो अब उसके परिवार का हिस्सा बन चुके हैं। वे जैसे उनके खून में बहते हैं। इसी कथा का एक हिस्सा उसकी भतीजी मिली-मिल्का-है, मिखाइल सैम्युएल की बेटी। इम्रायलियों की रक्त-शुद्ध का दर्ज दो हजार वर्षों से बेकार और बे-जड़ होने की उनकी नियति, अल्पसंख्यकों के रूप में उनकी सामाजिक-राजनीतिक हैसियत की समस्याएँ जिनका आज तक अपना स्वतंत्र कब्रिस्तान तक नहीं है। ऐसे अनेक प्रसंग उपन्यास में टिप्पणियों के रूप में विन्यस्त हैं जिन्हें सीमा के पत्रकार भाई बॉबी-मेरवाएल सैम्युएल-ने कभी अंग्रेजी और गुजराती में विंडो, खिड़की या वातायन शीर्षक से कभी धारावाहिक लिखा था। अखबारों की उन कतरनों को सीमा आज भी किसी कीमती थाती की तरह सहेजे हुए है।

परिसर में सखूताई के मिठू के प्रसंग में सीमा की स्मृति में राफू की यादों का रेला उमड़ता है- वह भी ऐसे ही टुकड़ों-टुकड़ों में अपनी बात कहता और पूछता था। लेकिन

सिखाया गया गाना बहुत शुद्ध और साफ आवाज में गाता था। सखूताई का वही मिट्टू आज पिंजरे में खामोश पड़ा था, जैसे कहीं दूर की उड़ान भरना चाहता हो। ज्योत्स्ना प्रजापति द्वारा राफू की भार और प्रताड़ना से विजड़ित और निषंद...मेरी के जीवन की डोर का आखिरी सिरा सरकाने की बातों में खोई सीमा प्रो. प्रफुल्ल पटेल की दुनिया में पहुँच जाती है। टुकड़ों-टुकड़ों में कथा के बिखरे सूत्रों को सहेजना और जोड़ना और एक जटिल और संश्लिष्ट रचना विधा का उदाहरण है। लेखिका ने पर्याप्त कौशल से इसे सम्पन्न किया है।

प्रियदर्शन मालवीय के उपन्यास के संदर्भ में शानी के इस वक्तव्य को दोहराया गया है कि प्रेमचंद के बाद हिंदी में मुसलिम पात्रों की उपस्थिति एक तरह से गायब होती गई है। शानी के इस कथन को दोहराया तो जब-तब गया, लेकिन कायदे से उसे कभी विश्लेषित करने की कोई गंभीर कोशिश की गई हो, ध्यान नहीं पड़ता। प्रेमचंद के बाद वृंदावनलाल वर्मा, यशपाल, अमृतलाल नागर, भगवतीचरण वर्मा आदि के यहाँ भी मुसलिम पात्रों की उपस्थिति कम नहीं है। यशपाल के 'झूठा-सच' के पहले खण्ड 'वतन और देश' की दुनिया तो इन साझे पात्रों की साझा चूल्हे वाली दुनिया है ही, उनकी कुछ उल्लेखनीय कहानियाँ 'प्रेम का सार', 'गमी में खुशी', 'परदा' आदि पूरी तरह मुसलिम पात्रों एवं परिवेश पर ही केंद्रित हैं। अमृतलाल नागर ने तो वर्षों स्वयं तस्लीम लखनवी के नाम से लिखा। राष्ट्रीय संदर्भों वाले अपने उपन्यासों में भगवती बाबू के यहाँ भी मुसलिम पात्रों की संख्या कम नहीं है, भले ही उनकी विश्वसनीयता को लेकर सवाल उठाया जाता रहे।

शानी नई कहानी आंदोलन की उपज थे। नई कहानी में अनुभव की प्रामाणिकता की जो अनुभववादी परिणति हुई है, उसका अनिवार्य परिणाम वस्तुतः वही होना था जो कहीं न कहीं शानी की इस शिकायत से भी जुड़ा है। वहाँ संबंधों की कहानियों के नाते व्यापक दुनिया से लेखक का संबंध टूटता-सा दिखाई देता है। भीष्म साहनी, कृष्णा सोबती और मोहन राकेश पंजाब और विभाजन के अपने अनुभवों के कारण ही इस मुसलिम परिवेश और पात्रों

वाली दुनिया से किसी हद तक जुड़े रहे। समूची नई कहानी में, शानी के स्वयं अपने अपवाद को छोड़कर, उतने मुसलिम पात्र नहीं हैं जितने उनकी पूर्ववर्ती पीढ़ी में मौजूद हैं। शानी जिस तथ्य को शिकायत के स्वर में बयान करते हैं वह वस्तुतः इस अनुभववाद की सहज और अनिवार्य परिणति थी। रेणु, शैलेश मटियानी आदि अपने-अपने क्षेत्रों के कारण ही अनेक उल्लेखनीय कहानियाँ लिख सकें। कृष्णा सोबती सहित उषा प्रियंवदा और मन्नू भंडारी स्त्री दुनिया तक अपने को सीमित रखी है- कम से कम मुसलिम पात्र उस रूप में इस दुनिया में नहीं हैं। कमलेश्वर के यहाँ 'लौटे हुए मुसाफिर' और 'कितने पाकिस्तान' को छोड़कर कमोवेश यही स्थिति है। अनुभव की इस प्रामाणिकता के तहत मुसलिम पात्रों पर लिखने का जिम्मा जैसे मुसलिम लेखकों के साथ नत्थी हो गया। अपने ढंग से जगदलपुर और बस्तर की पृष्ठभूमि में 'कालाजल' सहित अनेक कहानियों में शानी ने स्वयं इस काम को बखूबी अंजाम दिया। उन्हीं के साथ राही मासूम रज़ा थे। इसके बाद मुसलिम लेखकों की एक पूरी पीढ़ी उभरकर सामने आती है- बदी उज़्जमा, मेहरून्निसा परवेज़, मंज़ूर एहतेशाम, अब्दुल बिस्मिल्लाह, असगर वज़ाहत, नासिरा शर्मा आदि की पीढ़ी। यह माना गया कि मुसलिम लेखक ही इस काम को कायदे से कर सकता है। उस समाज का हिस्सा होकर ही उस पर विश्वसनीयता और प्रामाणिकता के साथ लिखा जा सकता है। इसने दूसरे लेखकों के रचनात्मक हस्तक्षेप और व्यापक साझेदारी की भावना को आघात भी पहुँचाया। लेकिन फिर भी इस सच को झुठलाया नहीं जा सकता। इस प्रसंग में अपनी दो निजी अनुभवों को बांटा जा सकता है।... कोई पच्चीस साल पहले मैंने हृदयेश को उकसाया कि अब वे अपने शहर शाहजहाँपुर से थोड़ा आगे बढ़ें और खास तौर से 1857 की पृष्ठभूमि में रूहेलखण्ड की प्रतिरोध-चेतना पर कोई उपन्यास लिखें। हृदयेश ने इसके लिए गंभीरतापूर्वक तैयारी भी शुरू की। कोर्ट की नौकरी के कारण उर्दू वे बहुत अच्छी तरह जानते थे। बरेली आकर इस विषय के कई जानकार लोगों से वे मिलें। हाफ़िज़ रहमत खान के परिजनों से भी वे मिले। इस सारी तैयारी के दौर में एक साल वे प्रायः कुछ नहीं लिख

सके। मुझे भी एक अपराध बोध सा सताने लगा कि कहाँ उन्हें फँसाकर उस काम को भी उनसे छुड़वा दिया जो वह आसानी से कर सकते थे। गहरी उधेड़बुन के बाद दो अध्याय उन्होंने लिखे भी। लेकिन गाड़ी चली नहीं। कोई डेढ़-दो साल बाद किसी कदर हताशा के साथ उन्होंने मुझे सूचना दी कि वे उस मुसलिम मुहावरे को पकड़ नहीं सके उस दौर का मुसलिम समाज, उसका रहन-सहन यानी वह समूची दुनिया और उसका परिवेश जिसमें रहकर ही कोई पात्र जीवन्त और विश्वसनीय लगता और बनता है। वे लिखे गये आरंभिक दो अध्याय बाद में, थोड़े हेर-फेर के साथ, दो स्वतंत्र कहानियों के रूप में छपे।

दूसरा उदाहरण यशपाल का है। हर लेखक अपने पात्रों की दुनिया बसाने से पूर्व उसके लिए गंभीर तैयारी करता है। यह तैयारी काफी-कुछ पक्षी के तिनका-तिनका जोड़कर बनाये गये घोंसलें की तरह होती है। 'मेरी तेरी उसकी बात' के प्रूफ पढ़े जाने के दौरान मैं कई दिन उनके साथ लखनऊ में ही था। वे रोज नियमित रूप से किसी ईसाई परिवार में जाकर उस समुदाय की दिनचर्या को जानने-समझने की कोशिश करते थे। 'झूठा-सच' में उनके मुसलिम पात्रों वाली दुनिया को मैं अपने ढंग से बहुत प्रामाणिक और विश्वसनीय समझता था। यशपाल शताब्दी-वर्ष में जब 'भारतीय लेखक' के यशपाल विशेषांक के संपादन का दायित्व भीमसेन त्यागी ने मुझे सौंपा, 'झूठा-

सच' के मुसलिम समाज पर मैंने नासिरा शर्मा से लिखने का अनुरोध किया। उन्होंने लिखा भी। लेकिन उनका वह आकलन पर्याप्त आलोचनात्मक था। उनका कहना था कि बहुत-सी बातों को यशपाल ने इसलिए बहुत सरसरी तौर पर लिया है और प्रस्तुत किया क्योंकि स्वयं मुसलिम न होने के कारण उन्हें वस्तुतः उसकी कोई जानकारी ही नहीं थी। प्रियदर्शन मालवीय के उपन्यास के प्रसंग में शानी का यह कथित आरोप भले ही प्रेरक का काम करता हो लेकिन किसी आरोप के प्रत्याख्यान को ही आधार बनाकर उपन्यास जैसे बड़े फलक की रचना नहीं की जा सकती।

इलाहाबाद में कल्याणी देवी और दरियाबाद जैसे मुसलिम बहुल क्षेत्रों में लेखक की रहवास और बचपन से उस जीवन को निकट से देखे जाने का तर्क भी इस उपन्यास का एक प्रेरक कारक रहा है। लेकिन, मुझे लगता है, इसके लिखे जाने में विभूति नारायण राय के काम की भी एक विशिष्ट और उल्लेखनीय भूमिका रही है। फिर भी कुल मिलाकर यह संवेदना से अधिक सहानुभूति का ही उदाहरण है। उस जीवन का बहुत आत्मीय एवं अन्तरंग आख्यान उतना नहीं है, जितना उस समुदाय को सहानुभूति पूर्वक देखे जाने का बौद्धिक उपक्रम है। किसी गहरी और बेधक संवेदना का अभाव ही, एक आख्यान के रूप में उसकी सबसे बड़ी सीमा है।

संपर्क:

372, छोटी बमनपुरी
बरेली-243003, मो. 09319838309

रामचरितमानस : लोक निर्माण का व्यापक साहित्य परिप्रेक्ष्य

हेमन्त कुमार शुक्ल

शोध छात्र- हिन्दी विभाग

का.हि. वि. वि., वाराणसी

विश्व की समस्त गतिविधियों का केन्द्र मनुष्य है। इस दृष्टि से वही लिपिबद्ध रचना साहित्य की कोटि में आ सकती है, जो मनुष्य को तराश कर उसके भीतर मनुष्यता के निर्माण, विकास एवं संवर्द्धन में अग्रणी हो। साथ ही साथ साहित्य की उपादेयता तभी तक है, जब तक वह हमारे मन मस्तिष्क का परिमार्जन कर, हृदय का अनुरंजन कर, पैरों को उन्नति के रास्ते पर जाने हेतु प्रेरित करे, उसके लिपि की स्याही हमारे ज्ञान-चक्षुओं को खोलने हेतु अंजन का कार्य करे अन्यथा साहित्य के नाम पर बहुत कुछ लिखना और पढ़ना, समय के साथ-साथ कागज व्यर्थ करके पर्यावरण को क्षति पहुँचाना है। 'रामचरितमानस' का भी मूल्यांकन आज इसी आलोक में होना चाहिए। अतः जरूरी है कि कुछ विवादित प्रसंगों को पुनः पाठ के माध्यम से सुलझाकर निर्विवाद पक्षों को यथाशीघ्र ग्रहण करें।

काव्य रचना एवं पठन के छः प्रयोजन स्वीकार करते हुए आचार्य मम्मट ने लिखा है- “काव्यं यशसे अर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये। सद्यःपरनिवृत्तये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥” कहना न होगा कि मम्मट ने इन छः काव्य प्रयोजनों के माध्यम से साहित्य का निकष या मानदंड निर्धारित किया है। और जब हम 'मानस' को इस पर कसते हैं तो वह पूरा का पूरा खतरा उतरता है। या यों कह लीजिए कि तुलसी ने इन समस्त काव्य आदर्शों का पूर्ण दोहन 'रामचरितमानस' में अधिकता से किया है। यदि मुझे साहित्य की परख करनी हो तो कहूँगा कि समस्त स्वर्ण-साहित्य में 'रामचरितमानस' की साहित्यिक शुद्धता चौबीस कैरेट है। ध्यान रहे साहित्य के इस मानक में 'शिवेतरक्षति' यानी लोकमंगल या लोक निर्माण प्रमुख घटक है।

'मानस' निर्माण के क्रम में तुलसी ने इस कृति के ध्येय वाक्य (मोटो) स्वरूप कुछ चौपाइयाँ लिखी हैं-

“जे एहि कथहिं सनेह समेता। कहिहहिं सुनिहहिं समुझि सचेता॥

“होइहहिं राम चरन अनुरागी। कलि मल रहित सुमंगल भागी॥”

“मंगल करनि कलि मल हरनि, तुलसी कथा रघुनाथ की॥”

ये चौपाइयाँ रामचरितमानस की आदर्श हैं, जो तुलसी की गर्वोक्ति नहीं बल्कि स्वभावोक्ति तथा व्यवहारोक्ति है। जिसे 'मानस' का प्रत्येक कुशल पाठक अनुभव कर सकता है तथा जीवन पथ पर चरितार्थ कर सकता है। अब प्रश्न यह उठता है कि 'कलिमल' क्या है? वर्तमान युग को कलियुग की अभिधा प्रदान की गयी है, जिसमें 'कलि' शब्द कल-पुरजा (टेक्नोलॉजी) का अर्थ देने के साथ-साथ कलह और झगड़े के पर्याय को भी वहन कर रहा है। इसमें संदेह नहीं कि वर्तमान टेक्नोलॉजी ने मनुष्य को अभूतपूर्व गति एवं सुविधाएँ दी हैं किन्तु यह भी सच्चाई है कि उसके व्यतिक्रम उपभोग से परेशानी घटने के बजाय और बढ़ गयी है। अर्थात् वे कारक जिनसे सामयिक युग पर नकारात्मक प्रभाव पड़ता

है, वही 'मल' है। जैसे लोहे में जंग लगकर उसे नष्ट कर देता है, उसी तरह मनुष्यता को नष्ट करने के लिए जो युग-घाती कारक हैं उन्हें 'कलिमल' कहा गया है, ये हैं—हिंसा, कलह, अन्याय, अत्याचार आदि। इन समस्त युग-व्यापी विकारों से मुक्ति पाने हेतु तुलसी ने 'मानस' को एक एन्टीवायरस की तरह पेश किया है, जरूरत है उसे अपने अन्तःकरण में स्थापित करने की।

अपनी उर्वर विशेषताओं के कारण 'मानस' के साथ अनेक विशेषणों का प्रयोग कर सकते हैं। कुछ लोगों के लिए यह एक धर्मग्रंथ है तो कुछ के लिए नीतिग्रंथ। दर्शन के अभिज्ञ पाठक को दर्शनशास्त्र का भान हो सकता है, वहीं औषधि विज्ञानी आयुर्वेद ग्रंथ के रूप में देख सकते हैं। राजनीति के पिपासु के लिए भी 'मानस' के दरवाजे खुले हुए हैं। अनेक युद्धों एवं तत्संबंधी नीतियों की बहुलता के कारण इसे सामरिक ग्रंथ की भी संज्ञा दी जा सकती है। उक्त सभी कोणों से 'मानस' पर अलग-अलग स्वतंत्र शोध-प्रबंध भी प्रकाशित हुए हैं। इस तरह ज्ञान की अन्य शाखाओं का संगम हमें एक साथ 'रामचरितमानस' में मिलता है। यही कारण है कि इसके रचनाकार से लेकर आज तक इसकी चौपाइयाँ जिस तरह से संस्कृत-हृदय मनुष्य में कंठहार बनी हुई हैं, वैसा अन्य ग्रंथों के साथ नहीं है। सुबह से शाम तक पता नहीं कितनी चौपाइयाँ जाने-अनजाने में बोल डालते हैं। यहाँ तक कि बहुत सारे मुहावरे और लोकोक्तियाँ 'रामचरितमानस' से ही लोक में ग्रहीत हैं, जिसका यथा समय जनमानस द्वारा प्रयोग किया जाता है— 'जाके पैर न फटी बिंवाई, सो का जानइ पीर पराई', 'बाँझ कि जान प्रसव कै पीरा', 'हित अनहित पसु पच्छिउ जाना' इत्यादि। इस तरह सामान्य बातचीत के क्रम में भी अपनी बात का विश्वास दिलाने के लिए 'मानस' का समर्थन हासिल किया जाता है, साथ ही जब कोई कठिन परिस्थिति उत्पन्न होती है तथा उसका हल जल्दी नहीं मिलता तो 'मानस' उसे पल भर में सुलझा देता है। इस प्रकार 'रामचरितमानस' एक व्यवहार या आचार ग्रंथ है।

रामचरितमानस के व्यावहारिक पक्ष के महत्त्व के संदर्भ में एक बड़ा ही रोचक दृष्टांत आता है कि एक बार एक दंपति को ट्रेन से कहीं जाना था सो वे दोनों रेलवे स्टेशन

पहुँचें। उस स्टेशन पर ट्रेन का ठहराव बहुत कम समय के लिए था। ट्रेन आयी तो पति तो ट्रेन पर चढ़ गया किन्तु पत्नी नहीं चढ़ पायी, तब तक ट्रेन चल दी और पत्नी वहीं छूट गयी। ट्रेन में पति महाशय पत्नी के छूट जाने से बहुत घबराये हुए थे। उनकी परेशानी को देखकर बगल खड़े सज्जन ने उनकी समस्या सुनी तथा परिचय लिया तो पता चला कि वे एक रामायणी हैं। यह जानकर कि वे रामचरितमानस का प्रवचन करते हैं, उस सज्जन ने पति महाशय की खूब खिंचाई की और कहा कि यदि तुमने मानस की बात को सुनाने की तुलना में खुद ग्रहण की होती तो तुम्हारी पत्नी आज स्टेशन पर नहीं छूटती, क्योंकि उसमें आता है—

“राम सखा तब नाव मगाई। प्रिया चढ़ाई चढ़े रघुराई।।”

यह है 'रामचरितमानस' का व्यावहारिक पक्ष जो हमें चलने-फिरने, उठने-बैठने, आने-जाने, खाने-पीने संबंधी आचार की सजगता सिखाता है। यही कारण है कि आज इस ग्रंथ की अनेक चौपाइयाँ सूक्ति की तरह प्रयोग की जाती हैं, जिसके माध्यम से हम अपनी छोटी-छोटी समस्याएँ तो तत्काल हल कर लेते हैं। समय की कीमत सर्वविदित है, जिसका सही और पूर्ण उपयोग करके अनेक सफलताओं को हस्तगत किया जा सकता है। विशेषकर किसानों के जीवन में, जहाँ आज को कल में तथा कल को आज में नहीं बदला जा सकता वहाँ मौसम की कीमत और बढ़ जाती है। ऐसे में समय की महत्ता को व्यक्त करती 'मानस' निःसृत यह सूक्ति अत्यन्त व्यवहारणीय है— “का वर्षा जब कृषी सुखाने। समय चूकि पुनि का पछिताने।।” इस तरह सनातन मानवीय मूल्यों को संरक्षण प्रदान करती अनेक सूक्तिवत चौपाइयाँ 'मानस' में भरी पड़ी हैं— ‘पर हित सरिस धरम नहिं भाई’, ‘धरमु न दूसर सत्य समाना’, ‘नहिं असत्य सम पातक पुंजा’ इत्यादि।

व्यावहारिक शिक्षा के क्रम में 'मानस' एक तरफ जहाँ योग्य मित्र के मिलने पर तन-मन-धन से अपने को समर्पित करने तथा उसके दुख निवारण के लिए अपने दुख को भुला देने की बात करता है, वहीं मित्रों के चयन के प्रति भी सावधान रहने की सलाह देता है क्योंकि प्रायः देखा जाता है कि ठगी करने वाले अक्सर मित्र वेश में ही प्रस्तुत होते

हैं। ऐसे फरेबी मित्रों को शूलप्रद कहा गया है- 'सेवक सठ नृप कृपन कुनारी। कपटी मित्र सूल सम चारी।।' दोस्तों! आज का समय अनेक चुनौतियों से भरा पड़ा है। जहाँ-तहाँ असामाजिक तत्त्वों ने अपना जाल फैला रखा है, चंदन के वृक्षों को काटकर बबूल की बागवानी की जा रही हो तो 'रामचरितमानस' की आवश्यकता एवं भूमिका समाज-निर्माण हेतु और बढ़ जाती है। वैसे तो लोक-निर्माण एवं विश्व कल्याण का ध्येय हमारे अन्य प्राचीन साहित्यों में भी प्राप्त होता है तथापि उसे प्राप्त करने का सुगम रास्ता 'मानस' में निर्दिष्ट है। मनुष्य को विनयी, नीतिज्ञ एवं प्रीति करने वाला होना चाहिए किन्तु समय एवं संदर्भ को देखकर। हम सड़क पर चलते हुए सड़क के नियमों का तो पालन करते हैं लेकिन यदि सड़क पर कोई जानवर आ जाय तो वहाँ रोड नियम भंग करके अपनी सुरक्षा जिसमें हो वही करना चाहिए, जो हमारे विवेक पर निर्भर है। ऐसे ही सजगता का पाठ 'मानस' में प्राप्त होता है कि मूर्ख, कुटिल आदि के साथ साधुताई का बरताव कतई उचित नहीं है- 'सठ सन विनय कुटिल सन प्रीती। सहज कृपन सन सुन्दर नीती।।

ममता रत सन ग्यान कहानी। अति लोभी सन बिरति बखानी।।'

इसी प्रकार अनेक नीति वचनों को तुलसी ने 'मानस' में संजोया है, जिसे उचित व्यवहार में लाकर संभावित अनर्थों से बचा जा सकता है। हमें ऐसे स्थलों पर जाने से बचना चाहिए जहाँ दूसरे के अकल्याण के साथ-साथ स्वयं अपमानित होना पड़े। सती प्रसंग में आता है कि - 'जदपि मित्र प्रभु पितु गुरु गेहा। जाइअ बिनु बोलेहुँ न सँदेहा।

तदपि विरोध मान जहँ कोई। तहाँ गएँ कल्याण न होई।'

साथ ही 'मानस' में नीति आती है कि हमें किन-किन व्यक्तियों से बैर नहीं रखना चाहिए, वैसे बैर-भाव किसी के साथ अच्छा नहीं होता तथापि नौ लोगों से बैर-भाव विशेष रूप से हानिकर होता है। ये हैं- 'सखी मर्मा प्रभु सठ धनी। बैद बंदि कवि भानस गुनी।।' कहने की आवश्यकता

नहीं है कि (यदि आधुनिक पत्रकारों को कवियों के अन्तर्गत तथा पुलिस विभाग को शस्त्रधारियों के अन्तर्गत शामिल कर लिया जाय तो) इन सबों का विरोध परेशानी का कितना बड़ा कारण बन सकता है। नीतियों की तो एक लम्बी फेहरिस्त 'मानस' में प्राप्त होती है। प्रायः प्रिय बोलने की सलाह सभी आचार ग्रंथों द्वारा दी जाती है, प्रिय बोलना भी चाहिए किंतु तीन तरह के व्यक्ति यदि विशेष प्रभाव में पड़कर ठकुरसुहाती भाषण करते हैं तो 'मानस' इसे अनिष्टकारी मानता है। ये हैं-

'सचिव बैद गुर तीनि जाँ, प्रिय बोलहिं भय आस।

राज धर्म तन तीनि कर, होई बेगहीं नास।।'

मित्रों! समाज निर्माण की प्रक्रिया अपने घर और परिवार से प्रारम्भ होती है। यदि हम अपने परिवार के लिए कर्तव्यनिष्ठ नहीं हैं, अपने पड़ोसी के प्रति वफादार नहीं हैं तो विश्व सुधार की कामना सोच से परे है। इस दृष्टि से 'रामचरितमानस' पग-पग पर सचेत करते हुए व्यक्ति सुधार की अपेक्षा रखता है। तुलसी ने अपने पात्र सृजन के दौरान भी इस चीज का बराबर ध्यान रखा है कि उनके द्वारा निर्मित सिद्धांत असम्भव आदर्श न साबित हो जायँ, इसके लिए तत्संबंधी आदर्श अनुकूल पात्रों के चरित्रों में पिरोते चलते हैं। आज के भ्रष्टाचार के समय में जहाँ व्यक्ति थोड़े से धन के लिए जघन्य से जघन्य अपराध करने से नहीं हिचकता, यहाँ तक कि जर-जोरू जमीन के लिए भाई-भाई का कत्ल करने में संकोच नहीं करता, वहीं 'रामचरितमानस' इन विकृतियों से बचने के लिए भरत और लक्ष्मण सरीखे दो पात्र (चरित्र) उपलब्ध कराता है। लक्ष्मण; जहाँ सेवा धर्म की प्रतिमूर्ति हैं, वहीं भरत त्याग की प्रतिमूर्ति। जिस सत्ता के लिए आज मारकाट मची हुई है वही भरत के लिए अत्यंत तुच्छ है, चित्रकूट की सभा में राम और भरत सत्ता को एक-दूसरे की तरफ फुटबॉल की तरह फेंक रहे हैं। यह है 'मानस' का प्रभाव किन्तु आज का युवा 'रामचरितमानस' से दूर होता जा रहा है, जिसका परिणाम भी प्रत्यक्ष है, अतः लोक निर्माण हेतु जरूरी है कि उसके प्रति सभी वर्गों का आकर्षण कायम रखा जाय।

संपर्क:

मो. 09956475055

छत्तीसगढ़ी लोक गाथा

नगेसर कैना

(सीताराम नायक का गीत)

डॉ. रमाकांत श्रीवास्तव

पूर्व अध्यक्ष, हिंदी विभाग, इंद्रकला संगीत महाविद्यालय, खैरागढ़।
रीडर- अवधेश नारायण विश्वविद्यालय रीवाँ। कथा-कहानी के जगत
में एक सुपरिचित नाम। पाँच कहानी संग्रह के अतिरिक्त विभिन्न
पत्र-पत्रिकाओं में कहानियाँ एवं आलोचना प्रकाशित होती रही हैं।
कुछ समय तक 'वसुधा' के संपादक मंडल में भी शामिल रहे हैं।
पूर्व निदेशक महाकवि केशवदास शोधपीठ, रीवाँ।

छत्तीसगढ़ अंचल में गाथागीतों की अनोखी परंपरा है। भारतीय समाज में प्राचीनकाल से चली आ रही कथा-कहन और कथा-गायन परंपरा के नैरन्तर्य का यह अद्भुत प्रमाण तथा प्रेरणादायक और काव्य कला रूप है। संचार माध्यम के फैलाव और तीव्र गति से होते हुए लोगों के रुचि परिवर्तन के बावजूद कथा-गायन की कला किसी न किसी रूप में अभी भी शेष है। यह अवश्य हुआ है कि जिन कथाओं के प्रस्तुतीकरण में दृश्यता और अभिनय की अधिक गुंजाइश है उनकी लोकप्रियता बरकरार है। उन्हें मंच और दर्शक समूह प्राप्त होने में कठिनाई नहीं होती। वस्तुतः रुचि विचलन के इस समय में श्रोता तीव्र गति से दर्शक में परिवर्तित हो रहा है।

छत्तीसगढ़ के मैदानी भाग में लगभग तीस-पैंतीस लोक गाथाओं के गायन की समृद्ध परंपरा बीसवीं सदी के छठवें-सातवें दशक तक रही है। व्यावसायिक और शौकिया लोक कलाकारों द्वारा विभिन्न आयोजनों अनुष्ठानों में इन गाथाओं को प्रस्तुत किया जाता था। इस परंपरा को जीवित रखने में यहां की देवार जाति का अविस्मरणीय योगदान रहा है। देवार गोंड जनजाति की एक शाखा है जो मध्ययुग में, छत्तीसगढ़ की तत्कालीन राजधानी रतनपुर में आकर बसी। इस घुमन्तू जाति का पेशा नृत्य-गान, कथा गायन और बंदर तथा सुअर पालना था। तीव्र गति से होने वाले सामाजिक परिवर्तनों के कारण स्वाभाविक रूप से उनकी जीवन शैली बदल रही है। ना तो वह अब पूर्णरूपेण यायावर जाति रही है और ना ही गाथा-गायन उसका व्यवसाय रह गया है। देवारों की नई पीढ़ी इस कला को धारण करने में रुचि नहीं रखती। अतः कथा गायन में निष्णात देवार कलाकार इक्के-दुक्के ही बचे हैं।

यों, गाथा-गायन अन्य श्रमजीवी जातियों के कलाकार भी करते हैं। यादवों की बांस-गीत-कला अभी भी जीवित है। अपने प्रिय वाद्य बांस को बजाकर वे चंपू शैली में कथा गायन करते हैं। भरथरी, पण्डवानी, चनैनी का गायन भी अन्य जाति के कलाकार भी करते हैं। छत्तीसगढ़ में कुछ ऐसी गाथाएँ हैं जिनका गायन विशेष रूप से देवार कलाकार ही करते थे। अपने गजवाद्य, जिसे सरांगी (सारंगी) और 'दुंगरू' कहा जाता है, की संगत करते हुए वे नगेसर कैना और दसमत कैना की गाथा का गायन करते थे। अब यह शेष होती हुई कला है।

स्त्री की आकांक्षा, गहन पीड़ा और उसकी संघर्षक्षमता को इन गाथाओं में केन्द्रीय भाव के रूप में स्थान मिला है। दसमत ओड़िया समाज की और नगेसर बंजारा समाज की स्त्री के रूप में गाथा में उपस्थित हैं। नगेसर कैना का गाथा पाठ 'सीताराम नायक' के नाम से भी जाना जाता है। सात दशक पूर्व वेरियर एल्विन ने अपनी महत्वपूर्ण कृति 'फोक सांग्स ऑफ छत्तीसगढ़' में इस गाथा का अंग्रेजी अनुवाद 'द सांग ऑफ सीताराम नायक' शीर्षक से संकलित किया था। इस संबंध में वेरियर एल्विन ने लिखा है—

*"This song was recarded from a Dewar minstred at Tendu bhata in Raipur District. It is mainly concerned, how ever, with Banjara (Lamana) life and traditions and sung by them at marriage and during Dassera Festival."*¹

'नायक' संज्ञा बंजारा जाति का द्योतक है। इस गाथागीत की कथावस्तु छोटी है किन्तु स्त्री-पुरुष संबंधों की दिलचस्प एवं करुण तस्वीर पेश करती है। इसे पुरुष के अहंकार और स्त्री की दुर्दशा के अतिरिक्त बंजारा समुदाय की जातिगत विशेषता से जोड़कर भी देखा जाना उचित है। वेरियर एल्विन की टिप्पणी है— *The song indeed reflect the restless and excitable character of Banjara."*

इस गाथागीत के निर्मित काल को सुनिश्चित करना संभव नहीं है किन्तु इसकी प्राचीनता असंदिग्ध है। वेरियर एल्विन की किताब का प्रकाशन 1946 में हुआ था। स्वाभाविक है कि ध्वन्यांकन की तिथि और भी पुरानी होगी। वर्तमान में, अपने वाद्य रूझू ('सरांगी' और 'दुंगुरू' के अतिरिक्त 'रूझू' भी देवारों के गजवाद्य का एक नाम है) को बजाते हुए घूमने वाले लोक कलाकारों की पीढ़ी समाप्त हो चुकी है। हमने अपने अध्ययन का आधार विलासपुर जिले के ग्राम कुकुसदा की श्रेष्ठ कलाकार रेखा देवार के गायन और उनकी अप्रकाशित पाण्डुलिपि को बनाया है। इसके अतिरिक्त जांजगीर जिले के झलमला ग्राम के निवासी डॉ. सोनऊ राम निर्मलकर (जिन्होंने देवारों की लोक गाथाओं पर शोध कार्य किया है) द्वारा उपलब्ध कराई गई सामग्री से नगेसर कैना कथागीत को क्रमबद्ध करने में मदद मिली

है। जहां तक वेरियर एल्विन द्वारा प्रकाशित पाठ का प्रश्न है उसकी कथा एकाएक प्रारंभ होती है जबकि भारतीय परंपरा में कथा गायन समान्यतः वंदना और कथा की पृष्ठभूमि वर्णन से शुरू होती है। संभव है वेरियर एल्विन को लोक कलाकार ने गाथा को संक्षिप्त करके सुनाया हो। वैसे भी लोक गाथाओं में हर कलाकार का अपना अलग पाठ होता है। इसके अतिरिक्त वह परिस्थिति, समय और अपने मूड के अनुसार कथा को विस्तार देता है या उसे संक्षिप्त कर देता है।

प्राप्त पाठ के आधार पर इस गाथा पर चर्चा करने के पूर्व यह बतलाना आवश्यक है कि 'कैना' या 'कइना' का अर्थ है कन्या। हमारे पाठ में देवार कलाकारों ने अपनी परंपरा के अनुसार पहले वंदना की है और रतनपुर तथा मल्हार नगरों के सौन्दर्य और वैभव का वर्णन किया है। ये दोनों ही प्राचीन छत्तीसगढ़ के महत्वपूर्ण नगर थे। इसका उल्लेख किया जाना इसलिए आवश्यक है क्योंकि नगेसर कैना गाथा में नायक सीताराम का निवास स्थान रतनपुर है और कथा-नायिका नगेसर का मायका मल्हार है।

देवार गायकी में नगेसर कैना के जन्म के साथ यह मिथक जुड़ा है कि जब नगेसर ने जन्म लिया तो रात को सोने की वर्षा हुई। रतनपुर के साथ वह किवदंती जुड़ी है कि रतनपुर चारों युगों में विद्यमान रहा है

सतयुग में मनिपुर बाजिस

त्रेता म मानिकपुर

द्वापर म हीरापुर बाजिस

*कलजुग म रतनपुर।*²

रेखा देवार अपनी गायकी में इन दोनों ही मिथकों को शामिल करती हैं और सीताराम नायक तथा नगेसर कैना के जन्म के पहले से अपनी कथा को प्रारंभ करती हैं। मुख्य कथा से उनका सीधा संबंध नहीं है किन्तु उससे कथा को विस्तार मिलता है और रोचकता में वृद्धि होती है। इसे हम कथा गायन की भारतीय शैली कह सकते हैं। पाठ का प्रारंभ देवताओं-महापुरुषों की वंदना करते हुए और रतनपुर तथा मल्हार नगरों की महिमा के बखान से होता है।

गइनी रमायन राम बिना

अर्जुन के बखानब बान
पोथी हरन भये तोर सहदेव बिना
राजा करन बिन दान
देवता के जगा सिरजे रतनपुर
दरजे कई जगा मल्हार।³

(रामायण गाना संभव नहीं है राम के बिना/वैसे ही वाण विद्या का बखान अर्जुन के बिना/पोथी बांचना सहदेव के बिना/राजा कर्ण के बिना दान महिमा का बखान/देवताओं के स्थान की तरह सिरजा गया रतनपुर/और दर्ज किया गया है कई स्थानों पर मल्हार)

तो किस्सा यूँ है कि वीरप्रसू राजस्थान की भूमि पर एक बार अकाल पड़ा। वहाँ के निवासी शिव नायक और उनके परम मित्र ब्रह्मा भविष्य के प्रति चिंतित हो गये। अकाल के थप्पड़ ने दोनों को व्याकुल कर दिया। अंततः सोच विचार कर दोनों नायकों ने अपने बैलों पर साजो सामान लादा और परिवार के साथ अन्य राज्य के लिये प्रस्थान किया। बनिज-व्यापार करते हुए दोनों पहले उज्जैन पहुँचे।

घूमते घूमते बिपारी करत
पहुँचिन उज्जैन धाम
महाकालेश्वर के दरसन पाइन
दरसन के फल दुनो पाइन
दुनो के नारी गरभवास
अइसन पावन उज्जैन धाम।⁴

(घूमते-घूमते व्यापार, करते/ वे पहुँचे उज्जैन धाम/ महाकालेश्वर के दर्शन पाये/ दर्शन का फल भी दोनों ने पाया/ दोनों की स्त्रियाँ हुईं गर्भवती/ ऐसा पावन है उज्जैन धाम)

वहाँ से चलकर दोनों परिवार रतनपुर पहुँचकर अलग-अलग मुहल्ले में बस गये। दोनों का काम-धंधा चल निकला। दोनों ने वहाँ तालाब-मंदिर बनवाये। शिव नायक तो वहीं के वासी हो गये किन्तु ब्रह्मा ने आगे प्रयाग निष्ठा और छत्तीसगढ़ी की पावन नगरी मल्हार के निवासी बने जहाँ की प्रसिद्धि यह है कि वहाँ की मिट्टी में सोना मिलता है। रतनपुर में शिव नायक को पुत्र की प्राप्ति हुई जिसका नाम सीताराम रखा गया। कुछ समय बाद ही मल्हार में ब्रह्मा नायक के घर चाँद सी सुंदर पुत्री जन्मी जिसका नाम नगेसर रखा गया।

जब सीताराम पाँच महीने का हुआ और नगेसर चार महीने की तभी दोनों का विवाह कर दिया गया। क्योंकि जब शिवनायक और ब्रह्मानायक की पत्नियाँ गर्भवती थीं तभी उन्होंने तय किया था कि यदि एक को पुत्र और दूसरी को पुत्री हुई तो दोनों समधिनें बन जायेंगी। इस शुभ अनुष्ठान को संपन्न कर दोनों परिवार अपने-अपने काम धंधे में जुट गये। कुछ दिनों के बाद रतनपुर में फैली महामारी में दुर्भाग्यवश शिवनायक की मृत्यु हो गई। ब्रह्मानायक का परिवार मातम मनाने रतनपुर गया और मित्र परिवार को सांत्वना देकर वापस आ गया। जीवन की आपाधापी में बारह वर्ष व्यतीत हो गये।

यहां तक की घटनाओं को गाथा का प्रथम खण्ड माना जा सकता है जिसे मूल कथा की पृष्ठभूमि और समा बांधने की कला कहा जा सकता है। वेरियर एल्विन द्वारा संकलित कथागीत इसके बाद प्रारंभ होता है।

Sitaram Naik comes out of his house and speaks to his mother

Mother there is a marriage in the village, all the houses are happily beating their drums.

I am an orphan and unmarried, find out same place for me.

Mother, while you are alive arrange my marriage and I will take your name.⁵

रेखा देवार के पाठ में लगभग ऐसे ही शब्दों में नायक की मनःस्थिति का वर्णन है-

दाई रहिस मोर ददा रहिस
दाई जननी के नइये खियाल
काल परन दिन मरि जावे ये
काखर छोड़बे सहारा
तोरे जियत ते धरम करि देवव रे
जुग जुग ले लेतेव नाव

(मेरे माता पिता तो थे/ पर अब जननी को नहीं है चिंता/ कल-परसों भर जाओगी तुम/ किसके सहारे छोड़ोगी मुझे/ अपने जीते जी धर्म का काम कर देती यदि/ तो युग युगों तक लेता तुम्हारा नाम)

तब सीताराम नायक की माँ ने बचपन में सम्पन्न हुए उसके विवाह की बात बतलाई और कहा तुम अपनी

ससुराल जाकर बहू को विदा करा लाओ क्योंकि पहले से गौने के लिये तय की गई बारह वर्ष की अवधि भी अब पूरी हो गई है। माँ का आदेश पाकर नायक 'लछिन कोर' की धोती और नौ नौ सेर के चूड़ा धारण कर घोड़े पर सवार होता है। एक लाख बराती बंदूक-भाला लेकर दमकते हुए चले। घोड़ों पर चना दाल के बोरे, ऊँटों पर आटा तथा बैलों पर गुड़, चिवड़ा और चावल लाद कर बारात चली। मल्हार पहुँचकर बारात ने तालाब किनारे डेरा डाला। नौबत बाजे बजने लगे। तासा, भड़का, करताल, रुंझी, मोहरी, मोहचंग और माटी से बने गुदुम नगाड़े की आवाज गूँजने लगी।

उधर मल्हार में पांच भाइयों की दुलारी बहन सुन्दरी नगेसर ने उसी दिन अपनी माँ से कहा कि वह तालाब पर नहाने के लिये जाना चाहती है। पिता ने इतना बड़ा तालाब खुदवाया है जिसका पाठ मेरे भाइयों ने बंधवाया, काका और ताऊ ने वहां वृक्ष लगवाये, मंदिर तथा घाट बनवाये। मेरी साध है कि आज मैं वहाँ स्नान करूँ। माँ ने नाराज होकर कहा कि उसे घर में ही स्नान करना चाहिए, तालाब पर जाने की जरूरत नहीं है। नगेसर कैना ने गुस्से में कहा-

आगी लगे तोर कुआ मा

अऊ तोर मुड परय गाज ओ दाई।⁶

(आगे लगे तुम्हारे घर के कुएँ में/ और तुम्हारे सिर पर गाज गिरे मां)

इस प्रसंग में वेरियर एल्विन द्वारा संकलित पाठ में भी नगेसर की नाराजी लगभग इन्हीं शब्दों में मिलती है-

*'May there be fire in the well and a thunderbolt fall on your head.'*⁷

माँ ने समझाया जवान बेटी और रास्ते किनारे की खेती एक बराबर होती है। राह चलता कोई कुछ बोल देगा तो हमारी इज्जत चली जायेगी।

नगेसर बोली- मेरे पांच बलशाली भाइयों के होते हुए यह कैसे संभव है? जो मेरी तरफ आँख उठाकर देखेगा उसकी आँखें निकलवा लूँगी। जो उंगली उठायेगा उसे जमीन में गड़वा दूँगी।

माँ ने फिर समझाया- कांसा-पीतल तो अदला-बदला जा सकता है पर गुजरे वक्त को बदलना संभव नहीं। तुम

लड़का होती तो घर के बांध देती। मुंह बोली बेटी होती तो जोर जबरदस्ती करती। लोगों का मन तो कुचाली होता है, वे तो हंसी उड़ाने से बाज नहीं आयेंगे-

कांसे पीतल रते अदल-बदल डारतेंव

सभे बदल नहिं जाय ओ बेटी

लड़का रते तोला म राखतेव दबाय ओ बेटी

बाढ़े बेटी ला तोला कोन घन मारय

हंसे सहर कइ लोग ओ बेटी।⁸

नगेसर नहीं मानी और उसने अपनी दासियों-सहेलियों को बुलवाया। दुलारा, बुलोरा, ठगिया, भानुस भरौनी, कोड़ी चाबन, फनवाही बोड्डी, रोहड़ा, कुटेला, कुड़हा, कूबड़ आदि तैयार हो गई।

(वेरियर एल्विन के पाठ में भोजली, केतकी, केवड़ा, सदाफूल, जवारा, कुबड़ी, मोहनी आदि)

सहेलियों के साथ नगेसर घर से निकली तो बिल्ली रास्ता काट गई फिर कुत्ता सामने आ गया। जब वह तालाब पर चढ़ने लगी तो सियार ने आड़ काटी।

उधर सीताराम नायक अपने विश्वासपात्र बुजुर्ग सेवक भीमा से कहता है कि वह तालाब पर चिड़ियों का शिकार खेलने जायेगा। भीमा उसे अनजान नगर में ऐसा करने से रोकता है किन्तु वह उसकी बात नहीं मानता और अपनी गुलाल लेकर तालाब की ओर निकल जाता है। तालाब के पत्थर पर बैठकर नहाती हुई नगेसर को देखकर वह उससे थोड़ा हटकर नहाने के लिए कहता है-

तैं घुचके नहावे कुलीन के घीरी

मैं परदेसी खेलव गुलेल

हट जाब ओ बहिनी

सुन लेवा मोरो बात

तोर तोर अंगठी में गोदना हावय

गोड़ मा तोड़ा बिराजे है ना

भोला बोली सुने के साथ

सुन सुंदरी मोर बात।⁹

(थोड़ा हट के नहायो कुलीन घर की लड़की/ मैं परदेशी खेलता हूँ गुलेल/ हट जाओ बहन/ सुन लो मेरी बात/ तुम्हारी अंगुली में शोभित है गोदना/ पांव में तोड़ा बिराज रहे हैं/ मुझे तुम्हारी बोली सुनने की है साध/ सुनो

सुंदरी मेरी बात)

नगेसर कैना एक अजनबी को देखकर जवाब देती है

तैं मोर बात ला करत हस

अपनो बातल बता

का तैं बामन का तैं रजपूत

का तैं हावस सोनार

पातर पातर मेछा जागय

दिखत हावय रेख

रेसम के दुपट्टा हालय

नरी म दुपट्टा तोर

देखत सुंदर लागत हस

बोली जहर समान।¹⁰

(तुम मेरी बात क्या करते हो/ अपनी बात भी बताओ/ क्या तुम ब्राह्मण या हो राजपूत/ क्या तुम हो सुनार/ तुम्हारी है पतली-पतली मूछों की रेख/ गले में लिपटा हिलता है तुम्हारा दुपट्टा/ देखने में लगते हो सुंदर/ किन्तु बोली है जहर समान)

सीताराम नगेसर से कहता है- मैं प्यासा हूँ, अपने घड़े से मुझे पानी पिला दो। नगेसर कहती है- सामने तालाब है, पुरइन पत्तों को हटाकर पानी पी लो। बिना जान-पहचान के तुम्हें पानी पिलाऊंगी तो मेरे पिता मुझ पर क्रोधित होंगे। यदि तुम मेरे पिता के परिचित होते या भाई के मित्र होते और मेरे घर आते तो मैं तुम्हें पानी पिलाती और गुड़-चिवड़ा खिलाती। तेली से तेल और भरारिन से भाजी लेकर करेला, बैंगन, भटे की साग बनाती। घी तलकर तरह-तरह के बरी बनाकर परोसती।

इस पर सीताराम नायक नाराज होकर कहता है- तुम जैसी औरत को मैं अपने घर की दासी बनाकर रख सकता हूँ। जवाब में नगेसर बोली- तुम्हारे जैसे लोग मेरे बाप के घर नौकर बनते हैं, जूठा खाते हैं और गलती करने पर कोड़े की मार खाते हैं। दोनों के अहम की टकराहट यहाँ तक बढ़ती है कि नगेसर सीताराम से कहती है-

भले बाप के बेटा होबे तौ तरिया भा रबे

छोटे बाप के बेटा होबे तौ वरिया ले आबे भाग।¹¹

(भले बाप के बेटे होंगे तो तालाब पर रहोगे/ छोटे बाप के बेटे होंगे तो तालाब से भाग जाओगे)

नगेसर कैना रोते हुए घर आती है। गुस्से में वह अपने

जेवर आँगन में फेंक देती है और कहती है- जाने कौन 'जुटहा मुरहा' तालाब पर आया है जिसने मेरा अपमान किया है। पांचों भाई क्रोध से तिलींग तिलींग होकर फौज सजाने लगे। तभी तिथि और लगन देखकर उनकी माँ ने उन्हें रोक कर कहा-

डेरा रतन पुरिहा के हावे, मत करा रार मचाय

गवन पठौनी बर आए सीताराम, अऊ तंबू इहां तनाय।¹²

(यह डेरा रतनपुर वाले का है, मत करो झगड़ा या लड़ाई गौने के लिया आया है सीताराम, और यहाँ तना है उसी का तंबू)

तब नगेसर के भाई सीताराम नायक को आदरपूर्वक घर ले आते हैं। अगहन मास के शुक्लपक्ष की पंचमी की तिथि गौने के लिये तय की गई। अब नगेसर को मालूम होता है कि तालाब पर वह अपने पति से ही झगड़ रही थी तो वह अपने भविष्य के प्रति चिंतित हो उठती है। इस बिन्दु पर वेरियर एल्विन द्वारा संकलित पाठ को भी हम याद कर सकते हैं जिससे नगेसर अपने पिता से कहती है-

Father do not send me to him this year, let me go next year in magh

*Father by then the Naik will have forgotten.*¹³

पर विदा होनी ही थी। लौटती बारात जब संवरी नदी (वेरियर एल्विन के पाठ में कारू नदी) के किनारे रुकी और डोला अमराई में उतार कर रखा गया तो सीताराम नायक के पालतू तोते ने उसे बतलाया कि उसकी नववधू वही स्त्री है जिसने तालाब पर उसे गालियाँ दी थीं-

सुआ फेर कहय वोही दइकी ए कका

जहन तरिया म रार मचाय

सिरतोन कहत हवं कन्दा

मुंह ल देख उधार।¹⁴

(फिर सुआ बोला वही औरत है काका/ जिसने तालाब पर मचाई थी रार/ सत्य कहता हूँ काका/ देखो वधू का मुंह उधार कर)

यहां वेरियर एल्विन की यह टिप्पणी ध्यातव्य है कि लोक साहित्य में ऐसा तोता अपवाद है। समान्यतः लोक गाथाओं में यह पक्षी बुद्धिमान, संवेदनशील और सहायक के रूप में उपस्थित है।

इस बिन्दु पर पहुँचकर यह लोकगाथा कुछ परिवर्तनों के साथ, भिन्न दिशाओं में बंटकर समापन तक पहुँचती है जो सुखांत अवश्य है किन्तु जिनमें समान रूप से स्त्री की उपेक्षा और पुरुष के अहंकार का चित्रण है। हर पाठ में नगेसर कैना का, भीषण प्रताड़ना से गुजरने का वर्णन है।

सुआ के शिकायत करते ही सीताराम आग बबूला हो जाता है। पालकी में बैठी दुल्हन का घूँघट उठाकर क्रोध में भरकर उस पर झपटता है—

रूप रंग सब भाड़ मा गइस
तन मन आगी कस गुंगवाय
लखिन कोर के तो कोड़रा घरे
नदिया मालीन भिंजोय
बार वछर के नगेसर ला
फेर नदिया आ मारथे जवान
सात कोड़री के मारे ले नगेसर के
पाटा फूटगे रे जवान।¹⁵

(रूप रंग सब गया भाड़ में/ तन मन सुलग उठे आग जैसे/ लखिन कोर का कोड़ा लेकर/ उसे नदी के पानी में भिगोया/ बारह वर्ष की नगेसर को/ नदी तीर में मारता है नायक/ सात कोड़े की मार से ही/ फूट गये नगेसर के भाग्य)

छै आगर और छै कोरी दासिया (6+20x6=126) तथा अन्य लोग सीताराम नायक को रोकते हैं किंतु वह नहीं मानता और अपनी पत्नी को इतना मारता है कि उसके प्राण छूट जाते हैं। नगेसर की इस प्रताड़ना का चित्रण वेरियर एल्विन के पाठ में भी है—

He caught the girl by her plaited hair, he threw her to ground.

*He beat her till hundred rupee sari was in tatlers.*¹⁶

रेखा देवार द्वारा उपलब्ध पाठ में नगेसर का वहीं प्राणान्त हो जाता है किन्तु विधाता आकर उसे जीवनदान देते हैं। नगेसर ससुराल पहुँचती है तो उसकी सास उसे पूरी सहानुभूति देकर अपने बेटे को समझाती है कि दुष्ट सुआ तुम्हारा पारिवारिक जीवन नष्ट कर देगा अतः उसके बहकावे में मत आओ किन्तु सीताराम नहीं मानता। तोते ने विश्वास दिला दिया था कि नगेसर कैना विक्षिप्त है जो

आधी रात में असामान्य व्यवहार करती है। सीताराम माँ से कहता है कि अपने बैलों को लेकर व्यापार करने के लिए प्रवास पर जाना आवश्यक है क्योंकि घर की संपत्ति छीज रही है। यदि कोई दानी आकर रुपया या अनाज मांगता है तो मैं उसे क्या दे पाऊंगा।

तब माँ ने उसे प्रवास पर जाने की अनुमति देते हुए कहा— किसी भी अन्य स्त्री से प्रेम मत करना क्योंकि वह तुम्हें जहर भी दे सकती है। जब तुम पत्नी के साथ जीवन गुजारोगे तभी तुम्हें सच्चा सुख और आत्मिक शांति मिलेगी।

नायक अपने साथ लाख बैलों पर सामान लाद कर अपने नौकरों के साथ यात्रा पर निकल गया। उसने पेंड़ा की राह पकड़ी और झुगराखंड में पड़ाव डाला। वह कई वर्षों तक घूमता रहा। इसी दौरान वह अपने नौकरों, जानवरों और सामानों के साथ नदी की बाढ़ में घिर जाता है। सूचना मिलने पर नगेसर पुरुष का वेश बनाकर जाती है और उसे बचाती है। सुआ अपना उत्पात जारी रखता है। सीताराम नायक घर आता है और फिर अपनी पत्नी को पीटता है। दूसरी बार वह फिर व्यापार करने चला जाता है। इस बार वह नदी की बाढ़ में बह जाता है। सुगा घर आकर नगेसर को समाचार देता है तो नगेसर नदी पर जाकर पति के शरीर के अवशेष एकत्र कर चिता बनाती है। उसका रुदन सुनकर शिव-पार्वती आते हैं और सीताराम को ना केवल जीवनदान देते हैं बल्कि पति-पत्नी को पुनः युवा बना देते हैं।

संकर भोला अमरित छींच
सबो परानी ला जियाथय
सोला बरस के सीताराम होगे
बारह बछर के नगेसर होगे।¹⁷

बंजारा जाति की प्रथा में सुया पालना वर्जित है। यह किस्सा उसका खुलासा करता है।

संकर भोला कहे रहिन सुन बेटा मोर बात
सुया बिलाई तुम मत पालो
यही बिगाड़े सब काम।¹⁸

रेखा देवार के पाठ के अंतिम अंश में दुहराव और कथा में व्यतिक्रम दिखलाई देता है। स्वाभाविक है। लुप्त होते हुए गाथा गीतों को किसी से सुनकर उसके पाठ को अपने ढंग से पुनः विकसित करने की प्रक्रिया में इन

कमियों से बचा नहीं जा सकता। श्रुति परंपरा से प्राप्त कथा को पुनः धारण करने वाले कलाकार का एक नया पाठ बनता है। इस तरह एक कथा पुनर्संजना के दौर से बार-बार गुजरती है।

वेरियर एल्विन के पाठ का उत्तरार्द्ध की इसी तरह घटना बहुल है। माँ के बार-बार समझाने पर भी सीताराम व्यापार करने निकल जाता है। यहां गाथा क्षेत्र का भूगोल अधिक स्पष्ट है। नायक 'चूरा' और 'पेरी' नदी पार करता है। वह सोन नद को पीछे छोड़ता है और 'ढोल' के किनारे डेरा डालता है।

वह बारह वर्ष तक घर नहीं लौटता। सीताराम नदी की बाढ़ में बह जाता है तब दुष्ट सुगा नगेसर कैना से आकर कहता है कि नायक की अंतिम इच्छा थी कि वह सती हो जाय। नगेसर नदी के किनारे चिता तैयार करती है जहाँ शिव पार्वती पहुँचते हैं। पार्वती के आग्रह पर शिव सीताराम को जीवित कर देते हैं। गाथा के अंतिम हिस्से में बंजारा जाति के विश्वासों और परंपराओं के संकेत हैं। इन परंपराओं को शिव का आदेश माना जाता है—

*Mahadev spoke to the naik, O Naik hear my word/ from today do not keep parrots/ Do not drink from flowing streams/ If you must drink for thirst, then strain the water through a cloth/ when your relatives come to see you, do not embrace them.*¹⁹

गाथा के सुखद अंत में सीताराम और नगेसर घर लौटकर सुखी जीवन बिताते हैं।

इस लोक गाथा के अन्य पूरे और अधूरे पाठों का उल्लेख भी होता रहा है। वस्तुतः बंजारा जाति की कुछ परंपराओं को गाथा में पिरोने के लिये कथा उत्तरार्द्ध में तोते की दुष्टता और नदियों का उल्लेख बार-बार होता है। इस लोक गाथा का पूर्वार्द्ध पात्रों के आपसी संबंधों और उनके

मनोभावों पर केन्द्रित है इसलिये उसका विस्तार मंथर गति से हुआ है। संभवतः समय के अंतराल ने इस अंश के पाठ को अधिक प्रभावित नहीं किया है जबकि उत्तरार्द्ध घटना-बाहुल्य से बोझिल है। अतः इससे पाठान्तरों की गुंजाइश स्वाभाविक है।

संदर्भ:

1. वेरियर एल्विन 'फोक सांग्स ऑफ छत्तीसगढ़' पृष्ठ 300
2. ग्राम कुकुसदा के दशरथ देवार से प्राप्त पंक्तियाँ
सौजन्य : डॉ. सोनऊराम निर्मलकर ग्राम झलमला
3. देवार गायिका रेखा देवार का पाठ - ग्राम कुकुसदा में की गई रिकार्डिंग
4. रेखा देवार की अप्रकाशित पाण्डुलिपि निजी संग्रह
5. वेरियर एल्विन 'फोक सांग्स ऑफ छत्तीसगढ़' पृष्ठ 301
6. रेखा देवार की अप्रकाशित पाण्डुलिपि
7. वेरियर एल्विन 'फोक सांग्स ऑफ छत्तीसगढ़' पृष्ठ 302
8. रेखा देवार की अप्रकाशित पाण्डुलिपि
9. सौजन्य : डॉ. सोनऊराम निर्मलकर
10. रेखा देवार की अप्रकाशित पाण्डुलिपि
11. वही
12. वही
13. वेरियर एल्विन 'फोक सांग्स ऑफ छत्तीसगढ़' पृष्ठ 308
सौजन्य : डॉ. सोनऊराम निर्मलकर
14. वही
15. वेरियर एल्विन 'फोक सांग्स ऑफ छत्तीसगढ़' पृष्ठ 310
16. रेखा देवार की अप्रकाशित पाण्डुलिपि
17. वही
18. वेरियर एल्विन 'फोक सांग्स ऑफ छत्तीसगढ़' पृष्ठ 315

संपर्क :

एल. एफ.-1, कनक रिट्रीट, ई- 218,
चिलंगा, भोपाल- 462039, मो. 09977137809

लोकगीतों का बदलता स्वरूप और चुनौतियाँ

नम्रता गुप्ता

शोध छात्रा, हिन्दी विभाग
का. हि. वि., वाराणसी

“लोक हमारे जीवन का महासमुद्र है, उसमें भूत, भविष्य, वर्तमान सभी कुछ संचित रहता है। लोक राष्ट्र का अमर स्वरूप है, लोक कृत्स्न ज्ञान और सम्पूर्ण अध्ययन में सब शास्त्रों का पर्यवसान है। आर्वाचीन मानव के लिए लोक सर्वोच्च प्रजापति है। लोक, लोक की धात्री, सर्वभूतमाता पृथिवी और लोक का व्यक्त रूप मानव, यही हमारे नवजीवन का अध्यात्मशास्त्र है। इसका कल्याण हमारी मुक्ति का द्वार और निर्माण का नवीन रूप है। लोक पृथिवी मानव, इसी त्रिलोकी में जीवन का कल्याणतम रूप है।”¹

प्राचीन समय से ही मानव अपने जीवन के सुख-दुख, आशा-निराशा, गति-ठहराव और जीवन-मृत्यु के प्रति निष्ठा रखते हुए, उसे अपनी संस्कृति में शामिल करता रहा है। इसका जीवन्त प्रमाण उसके द्वारा मनाये जाने वाले पर्व-त्योहार हैं, जिससे उसने निरन्तर प्रवाहमान परम्परा को और समृद्ध किया है। लोकगीत, लोकगाथा और लोककथा के माध्यम से, जो कि मौखिक रूप से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक निरन्तर चलती रही है, और जिसने सहज, सरल व स्वतःस्फूर्त अनुभूतियों को सदैव व्यक्त किया है। इस अभिव्यक्ति में जनमानस का स्वप्निल संसार तो होता ही है, उसके यथार्थ भी कहीं-न-कहीं गूँजने लगते हैं। भले ही लोकसाहित्य में लोकगाथा और लोककथा शामिल हो, परन्तु उसकी व्यापकता लोकगीतों में ही दिखायी पड़ती है। अतः कहा जा सकता है कि लोकसाहित्य को मुख्य रूप से लोकगीतों से ही समृद्धि प्राप्त होती आयी है।

गीत अनादिकाल से संवेदनशील मानव हृदय की भावनाओं को जनसामान्य के समक्ष प्रस्तुत करने का लोकप्रिय माध्यम रहा है। शायद यही वजह है कि लोकगीतों की वाचिक परम्पराओं को साहित्य में संरक्षित करने वाले विद्याबिंदु सिंह लिखते हैं, “लोकगीत माधुर्य, उल्लास और संवेदना के अक्षय्य स्रोत आदिम युग से इसलिए रहे हैं, क्योंकि समाज उसमें स्वयं को अभिव्यक्त करता रहा है।”² जो सरलता, स्वाभाविकता तथा स्वच्छन्दता से साहित्य को भी विभूषित किये हुए हैं। लोकसाहित्य के मर्मज्ञ डॉ. देवेन्द्र सत्यार्थी ने लोकगीत के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लिखा है, “कहाँ से आते हैं इतने गीत? स्मरण-विस्मरण की आँख-मिचौनी से। कुछ अट्टहास से। कुछ उदास हृदय से। कहाँ से आते हैं इतने गीत? जीवन के खेत में उगते हैं ये सब गीत। कल्पना भी अपना काम करती है, रसवृत्ति और भावना भी, नृत्य का हिलोरा भी- पर ये सब है खाद। जीवन के सुख, जीवन के दुःख, ये हैं लोकगीत के बीज।”³ अतः स्पष्ट होता है कि लोकगीत जो विभिन्न ऋतुओं, संस्कारों, उत्सवों पर गाये जाते हैं, वे मानव की सामूहिक श्रम, उल्लास एवं संघर्ष की ही उपज होते हैं। संस्कारों की दृष्टि से, रसानुभूति की दृष्टि से, ऋतुओं और व्रतों की दृष्टि से, विभिन्न जातियों के प्रकार की दृष्टि से और क्रिया गीत की दृष्टि से लोकगीतों को कई भागों में विभाजित किया गया है।

लोकगीतों का स्वरूप हमेशा एक-सा नहीं होता। चूँकि, ये गीत मौखिक परम्परा से एक पीढ़ी-से-दूसरी पीढ़ी तक हस्तान्तरित होते रहते हैं, अतः कुछ बदलाव निश्चित हैं। आज भी ग्रामीण क्षेत्रों में लोकगीतों के ऐसे रूप मिलते हैं, जो पीढ़ियों से हमारे बीच चले आ रहे हैं। लेकिन, जब हम इन गीतों का विश्लेषण करेंगे तो पायेंगे कि ये हुबहू उसी रूप में नहीं हैं, जिस रूप में पिछली या उससे पिछली पीढ़ी में गाये जाते रहे हैं। इनमें समय के अनुसार भाषायी परिवर्तन होता चला गया है। चूँकि, मानव की अभिव्यक्ति सामाजिक परिवर्तन के

साथ ही बदलती जाती है। अतः ऐसे में लोकगीतों में भी बदलाव आना सम्भव है।

बीसवीं शताब्दी में शिक्षा और ज्ञान के प्रसार से जीवन-शैली में अप्रत्याशित बदलाव देखने को मिले, वह ऐसा दौर था जब गाँव का कस्बा में, कस्बा का नगर में तीव्र गति से परिवर्तन हो रहा था। इस तब्दीली से क्षेत्रीय बोलियों में भी परिवर्तन आये। फलस्वरूप, ग्रामीण जीवन से संबंधित सहज, सरल और सरस बोलियों पर नगरीय आवरण चढ़ने लगा। नतीजतन, बोलियों में रचा-बसा जीवन गीत, मानकीकृत होकर कृत्रिम बोझ से दबता चला गया। अब जबकि हम इक्कीसवीं सदी में पहुँच चुके हैं और जीवन जो कि बड़ी रफ्तार से विकास की ओर बढ़ा है, उसने बहुत-सी चीजों को दरकिनार कर दिया है। कुछ इन्हीं चीजों में हमारी लोककथा, लोकपरम्पराएँ भी शामिल हैं। लोकपरम्पराएँ लोकगीतों में ज्यादा सुरक्षित और संरक्षित थी, क्योंकि लोकगीतों में संवेदना की बुनियाद पर व्यापक संसार रचा जाता था। इसमें अन्तःपुर से लेकर खेत-खलिहान का विस्तृत जीवन, कई पीढ़ियों के संग स्त्री-पुरुष के साहचर्य में फलता-फूलता था। इसके साथ ही प्रकृति के तमाम जीवित पदार्थों से कहीं-न-कहीं यह जीवन (स्त्री-पुरुष) अपने को सौन्दर्यमयी बनाता था। लोकगीतों से छिटकते मनुष्य से प्रकृति ने भी हाथ छुड़ाना शुरू कर दिया है। मनुष्य और प्रकृति के इसी साहचर्य पर टिप्पणी करते हुए विद्याबिंदु सिंह लिखते हैं, “आज लोकगीतों से कटने के कारण मनुष्य और प्रकृति के साहचर्य से सहज पैदा होने वाली आत्मीयता चुकती जा रही है। हमारी वाचिक परम्परा संबंधों के साहचर्य पर टिकी है। वे संबंध अब चरमरा रहे हैं, क्योंकि हम लोकगीतों के यथार्थ और आस्वाद दोनों से अलग होते जा रहे हैं, इस वाचिक परम्परा से कटने के कारण ही हम धुनों और लय की पहचान से वंचित हो रहे हैं, केवल संगीत की लय की पहचान से ही नहीं, पूरे जीवन की लय की पहचान से भी। इस लय को पहचानना सम्पूर्ण जीवन को पहचानना है।”¹⁴ लोकगीतों की एक बड़ी विशेषता उनकी संवाद शैली रही है। हृदय की गहराई से निकले लोक की बोली-बानी में भावनाओं की सहज अभिव्यक्ति इतने जीवंत थे कि आज

भी हमारे मन को अंदर तक छू जाते हैं; जैसे-

“कवनि उमरिया सासु, निबिया लगायेन
कवनि उमरिया गै विदेसवा हो राम।
खेलत कूदत बहुआरि निबिया लगायेन
रेखिया भिनत गै बिदेसवा हो राम।
फरिगै निबिया लहसि गै डरिया
तबहू न आये मोरा विदेसिया हो राम।”¹⁵

इस गीत में सास-बहू का एक दूसरे से संवाद है। बहू, सास से पूछती है कि प्रियतम ने नीम का पेड़ कब लगाया था और किस उम्र में विदेश गये थे? इस पर सास बहू को उत्तर देती है कि खेलने-कूदने की उम्र में नीम का पेड़ लगाया था और रेखभीगते ही विदेश चला गया। अब अपनी पीड़ा और विरह की अवधि का संकेत करती हुई बहू कहती है कि यह नीम की डाली फूल गयी है, तब भी मेरा प्रियतम विदेश से नहीं आया। इस छोटे से गीत में स्त्री जीवन की वह पीड़ा प्रकट होती है, जिसे शताब्दियों से चौखट के अंदर कैद करके रखा गया है, और जिसमें दुःख बहुत कुछ अपनी पूर्व पीढ़ी-सा है।

वहीं, 1961 ई. में जब बच्चन इसी संवाद शैली का प्रयोग कर लोकगीत रचते हैं, तो समय के अनुसार भाषा, बोली व स्वभाव में अन्तर आ जाता है। उनका एक गीत ‘लाठी और बाँसुरी’ शीर्षक से है, इसमें पुरुष-स्त्री के संवाद का वर्णन कुछ यूँ है-

पुरुष

लाडो, बाँस की बनाऊँ लठिया की बाँसिया ?

X X X

बंसी-धुन कानों में पड़ती, गोरी के दिल को पकड़ती
भोरी मछरी को जैसे मछुआ की कटिया,

X X X

जग में दुश्मन भी बन जाते, मौँका पा नीचा दिखलाते,
लाठी रहती जिसके कांधे, उसकी ऊँची पगिया।

स्त्री

राजा, बाँस की बना ले बाँसिया औ लठिया,
बंसी तेरी पीर बताये, सुनकर मेरा मन अकुलाये
सोने दे न जगने दे मेरी फुल-खटिया

X X X

प्रेमी के दुश्मन बहुतेरे, ऐरे-गैरे-नत्थू खैरे,
हारे, भागे न किसी से मेरा रंग-रसिया।⁶

इस गीत में पुरुष, स्त्री से कहता है कि बाँस की लाठी बनाऊ की बाँसुरी, और साथ ही दोनों के उपयोगिता को बताता है; परन्तु, स्त्री उससे भी व्यवहार कुशल है। वह दोनों चीज बनाने को कहती है। दोनों समय के लोकगीतों को देखा जाय, तो समाज में परिवर्तन की झलक मिलती है; जहाँ उस गीत में एक बहू, सास से सहज ही अपनी पीड़ा बाँटती है, वहीं इस गीत में समय के साथ स्त्री के विचार व तर्क शक्ति में वृद्धि दिखायी पड़ती है, और वह अपने जीवन साथी से वार्तालाप भर नहीं करती, उससे व्यावहारिक संदर्भ में जुड़ती भी है। यहाँ कथ्य के साथ-साथ भाषा के रूप में भी बदलाव होता है।

हमारे लोक में हिन्दू धर्म के अनुसार मानव जीवन का पूरा कालक्रम सोलह संस्कारों से पूर्ण होता है। जन्म से मृत्यु तक जीवन के प्रत्येक पड़ाव पर वह संस्कार से बँधा होता है, जिसमें जन्म, मुण्डन, यज्ञोपवीत, विवाह, गवना, मृत्यु मुख्य हैं। इन्हीं संस्कारों पर हमारे यहाँ हर्षोल्लास गीत के साथ-साथ हृदयविदारक गीत भी मिलते हैं। परन्तु, इन गीतों की भी दुनिया सिमटती जा रही है। प्रोफेशनलिज्म के युग में हर चीज को तर्क की कसौटी पर कसने वाला आधुनिक मानव बहुत-सी परंपराओं को रुढ़ और मृत कह दरकिनार करने लगा है। जन्म के साथ गाया जाने वाला सोहर, अब धीरे-धीरे लुप्त होता जा रहा है। कहीं ध्वनिप्रसारक यंत्रों के सहारे बज उठे तो अलग बात है-वरना हमारी पीढ़ी इन गीतों में कम दिलचस्पी लेती है।

जुग-जुग जिया तु ललनवा, भवनवा के भाग जागल हो
ललना लाल होंइये, कुलवा के दीपक, मनवा में आस
जागल हो।।⁷ (सोहर)

विवाह की रस्में पहले की तरह शाम से सुबह तक नहीं होती। एक दो बजे शुरू होने वाली शादी चार बजे खत्म हो जाती है। ऐसे में विभिन्न रस्मों पर गीत नहीं मिलते। माँ-चाची की पीढ़ी कुछ भले गुनगुना ले, नई पीढ़ी फिल्मी धुनों के सहारे काम चलाने की कोशिश करती है। विवाह की रस्मों से संबंधित कुछ लोकगीत-

“पांच पेड़वा बगिया लगाए,

बगिया में रखे रखवार,
घर में से निकले बेटी हो बेटी
लहस बगिया में जाय।”⁸ (विवाह गीत)

“केन मोरे बोआ है सुहाग कै बारी रे
के हौ गोड़हि केन देहि ठण्डा पानी हो!
बाबा मोरा बोआ है सोहाग कै बारी रे
भैया गोड़हि भौजी देहिं ठण्डा पानी रे।”⁹ (सोहाग गीत)
“सुगना जै भौरवै आपन सुग्गी, चला सुग्गी हमरेंहि
देसवाँ,

अनन्दबनवाँ छोडि देहु ना
जो हम चली सुग्गा तुहरेहि देसवाँ, कौन-कौन सुख होय,
अनन्दबनवाँ सून होइहै।”¹⁰ (विदाई गीत)

ये गीत हृदय की भावनाओं से सराबोर हैं। विवाह की सभी रस्म-उरदी, हल्दी, चुमावन, पीतर न्यौता, कन्यादान, सिन्दूरदान, विदाई आदि पर घर-पड़ोस की स्त्रियाँ भाव-भँगिमा के साथ जो चित्रण करती थीं, वह लोगों को रस्मों की तरफ खींचकर ले जाता था और पूरे माहौल को रसमय बना देता था।

लेकिन, आज इक्कीसवीं शताब्दी के दौर में जब पूरी दुनिया को संचार के साधनों ने अपनी मुट्ठी में दबोच लिया है, लोक भी इसी का अनुगामी हो चला है। अब लोकगीतों का स्वरूप बहुत ही विकृत हो चुका है। इस विकृति में सिनेमा में चित्रित समाज और आधुनिक (पाश्चात्य) संगीत की अहम भूमिका है। अब विभिन्न रस्मों-रिवाजों पर जो गीत गाये जाते हैं, उनमें फिल्मी ‘टोन’ के साथ-साथ नगरीय भाषा की पैठ बढ़ती जा रही है। बहुधा यह देखने को मिल रहा है कि बच्चे का जन्म हो या शादी-विवाह का मौका सब जगह फिल्मी गीत ही गाये या बजाये जाने की प्रथा चल पड़ी है। लोक वाद्ययंत्र; जैसे- ढोलक, शहनाई, मंजीरा, जो ‘शुभ’ के प्रतीक थे, इनकी जगह बड़े-बड़े साउण्ड सिस्टम और डी. जे. ने ले ली है, जहाँ गीत की रसमयता हृदय में धुल जाती थी, वहीं अब फिल्मी गीत के चीत्कार में ही लोग अपने को विकसित मानने लगे हैं। हालात तो यह हो गये हैं कि लोकगीतों और उनको गाये जाने वाले लोगों को गाँव व कस्बों से जोड़कर हीन-दृष्टि से देखा जाने लगा है। कहीं-कहीं तो स्थिति यह है कि

ग्रामीण जन भी या वे लोग जो आज भी अपनी लोक-संस्कृति से जुड़े हुए हैं, अपने पारंपरिक गीतों को गाने में अपमान महसूस करने लगे हैं। लोकगीतों के हास से लोगों का रस्मों के साथ-साथ एक-दूसरे के प्रति जुड़ाव की भावना का भी हास होता जा रहा है। हमारे आधुनिकपन के चक्कर में हमारी लोक-संस्कृति, जिसकी बेहद समृद्ध परम्परा है, जो भारतीयता की पहचान है, धीरे-धीरे अपनी पहचान खोती जा रही है।

वहीं दूसरी तरफ विभिन्न ऋतुओं, व्रतों और त्यौहारों के लोकगीत हैं, जो लोक-संस्कृति को समृद्ध बनाते रहे हैं। इन गीतों के माध्यम से हमें ऋतुओं के आगमन और उससे संबंधित विभिन्न व्रतों और त्योहारों का पता चलता रहा है; जैसे- होली, देवी-पूजन, सावन, तीज, चैती, चॉचर, जीवितपुत्रिका व्रत, गोधन आदि। इन गीतों से त्योहारों में लोगों के उत्साह, उमंग, पूजा-पाठ और व्रतों में श्रद्धा-समर्पण का भाव दिखायी पड़ता था। इसके केंद्र में स्त्री हुआ करती थी। इस संदर्भ में कुछ गीत के अंश प्रस्तुत हैं- *निमिया के डाढ़ि मइया, लावेली हिंडोलवा कि झूली झूमी मइया मोरी गावेली गीत कि झूमी-झूमी।।*

*झुलत-झुलत मइया के लगली पियसिया कि चली भइली मलहोरिया अवास कि चली भइली।*¹¹ (देवी गीत)

*अइन गोध बाबा पाहुन हो, काहे के बैइटे के देई, चन्दन काठि क पिढ़वा हो, ऊहें बैइटे के देई।*¹² (गोधन-पूजा)

आजु सदा सिव खेलत होरी

जटा जूट में गंग बिराजै, अंग में भसम समोरी

*आजु सदा सिव खेलत होरी।*¹³ (होली)

बदलते समय के साथ इन गीतों की ध्वनि विलीन होती जा रही है। कभी हृदय से सहज ही प्रवाहित होने वाले या कि हृदय को स्पन्दित करने वाले ये गीत आज के समय में दुर्लभ होते जा रहे हैं। इनकी जगह भी फिल्मी तर्ज पर लिखे गीतों ने ले ली है। होली को ही देखें तो जहाँ इस पर्व को उत्साह-मस्ती, हँसी-मजाक के रूप में मनाया जाता था, और ढपली पर थाप देकर फगुवा गीत गाये जाते थे, जिनमें मौज-मस्ती के साथ-साथ बड़े-छोटे और सामाजिक मर्यादा का भी निर्वहन होता था; जो रिश्तों को अलग ही

गरिमा देते थे। मस्ती का यह पर्व सामूहिक उल्लास की अपेक्षा घर के अन्दर एक कोने में स्थित रसोईघर के पकवानों तक सिमट गया है।

लोकगीतों के स्वरूप में बदलाव का सबसे बड़ा कारण औद्योगिकीकरण का विकास है। लोकगीत, जिनका विशेष सम्बन्ध ग्रामीण क्षेत्रों से रहा है- जहाँ किसान अपने खेतों की जोताई, बुआई, कटाई आदि के समय अपने श्रम का परिहार गीतों के माध्यम से मनोरंजन में बदल कर करते थे। जिससे कि श्रम और समय का पता भी न चले और साथ-साथ कार्य भी पूरा हो जाये। ये गीत आकार में छोटे होकर भी अपने अन्दर एक कहानी लिये हुए होते थे, जिनमें संवाद के साथ-साथ चुटीलापन भी होता था। रोपनी गीत का एक उदाहरण देखिए, जहाँ स्त्री अपने पति से- जो रोपनी के लिए जा रहा है, कहती है कि अरे पैसे के लोभी पिया, घर लौट आओ। नहीं लौट सकते तो बार-बार विनय करती हूँ कि मुझे भी साथ ले चलो। मैं गाँठ जोड़कर तुम्हारे बैलों पर (सामान) लदवाऊँगी, डेरे पर भोजन बनाऊँगी। ऊपर से घी की धार गिराऊँगी, आँचल से हवा करूँगी। इस पर उसका पति कहता है कि यदि तुम बेली का फूल होती, तुम्हें अपनी पगड़ी के पेंच में रख लेता, लेकिन अभी कम उम्र हो तुम, साथ के लोग हँसेंगे।

“अरे पिया कौड़ी के लोभी फिर घर के।।

बेरिहिं बेर तोहि बनवो हो नयका हमहू गेहन लिये जाब गठिया जोरि तोरा बरथी लदइबों कि डेरवा प जेवरा बनाव उपरा से छोड़बई घिउवा के धरवा कि अचरन झलन बयार।।

*जो धनि होइतू बेइलिया के फुलवा रखितों पगरिया के पेंच तू धनि बाड़ बारी रे बयसिया कि हँसिहें सथवा के लोग।*¹⁴

इन लोकगीतों के माध्यम से, मनोरंजन, हर्ष और उत्साह के साथ खेती व श्रम संबंधी कार्य सम्पन्न होते थे। परन्तु, अब औद्योगिकीकरण के विकास के साथ उसकी भी ज़रूरत समाप्त हो गयी है। अब बैलों की जगह ट्रैक्टर ने, हँसुए की जगह श्रेशर ने और आदमियों की जगह स्वचालित मशीनों ने ले ली है। अब न खेतों में काम कर रही औरतों-मर्दों का झुंड रह गया; न वे गीत रह गये। कृषि कार्य से जुड़े विभिन्न प्रकार के गीत, जो अलग-अलग समय पर गाये जाते थे; अब विस्मृति के दरवाजे पर आ

खड़े हुए हैं।

विकास की अंधी रफ्तार ने संयुक्त परिवार की अवधारणा ही खत्म कर दी है। हमारे समय में, जिस तरह एकल परिवार में बढ़ोत्तरी हो रही है, उसका लोकगीतों पर विशेष प्रभाव पड़ा है, जहाँ पहले संयुक्त परिवारों में सास-बहू, ननद-भौजाई, देवरानी-जेठानी से संबंधित चुटकी भरे गीत गाये जाते थे; वहीं सावन में मायके में आयी ननदों के साथ भौजाई के चुहलकदमी व चुटकीले कजरी गीत व झूले के गीत पूरे वातावरण को सरस व मिठास से भर देते थे। अब ऐसा आनंद संभव नहीं। एक बेहद लोकप्रिय कजरी गीत का उदाहरण देखें-

कइसे खेले जइबु सावन में कजरिया

बदरिया धिरि आइल ननदी॥

घर से निकसी अकेली, सँग में एको ना सहेली

गुण्डा रोक लेले बिचहीं डगरिया

बदरिया धिरि आइल ननदी॥¹⁵

लेकिन, आज पाश्चात्य की नकल में एकल परिवार की बढ़ती संख्या में रिश्तों की पहचान कम होती जा रही है, जिसके साथ मिठास भरे गीत भी जीवन से दूर होते जा रहे हैं। यही स्थिति रही तो ये गीत विलुप्त हो जायेंगे।

लोकगीतों में हमारी संस्कृति और परंपराएँ समाहित होती हैं। इनसे जीवन को व्यापकता मिलती है। ये आदमी को कई प्रकार की मुश्किलों से लड़ने की ताकत देते हैं। शायद, यही कारण है कि कुछ दूरदर्शी और चेतना सम्पन्न लोगों ने लोकगीतों के संरक्षण के लिए कई कदम उठाये हैं। उन्हें लिखित रूप में संग्रहित किया है। लेकिन, ये गीत पन्नों में ही सिमट कर रह गये हैं। अब जरूरत है, इन्हें फिर से बदलती परंपरा में लाने की, इनसे अपनी चेतना को धार देने की। कहते हैं न कि 'समय का पहिया घूमता है' इसलिए यह जरूरी है कि इक्कीसवीं सदी के मानव के मशीनी जीवन में फिर से लोकगीतों का समावेश हो, जिससे मानव अपने अन्दर मानवता का, उत्साह का, सहजता का, ऊर्जा के साथ अपने जीवन में संचार कर सके। अपने

जीवन को जटिल होने से बचा सके। यदि ऐसा करने में हमारी पीढ़ी सफल होती है तो जीवन ज्यादा सहज, सरल और उन्नत होगा।

संदर्भ:

1. लोकसाहित्य के प्रतिमान, डॉ. कुंदन लाल उप्रेती, भारत प्रकाशन मंदिर, अलीगढ़, तृतीय संस्करण-2000, पृष्ठ संख्या 31।
2. वाचिक कविता : अवधी, सं.- डॉ. विद्यानिवास मिश्र, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, दूसरा संस्करण- 2005, पृष्ठ संख्या 9।
3. लोकसाहित्य के प्रतिमान, डॉ. कुंदन लाल उप्रेती, भारत प्रकाशन मंदिर, अलीगढ़, तृतीय संस्करण-2000, पृष्ठ संख्या 52।
4. वाचिक कविता : अवधी, सं.- डॉ. विद्यानिवास मिश्र, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, दूसरा संस्करण- 2005, पृष्ठ संख्या 11।
5. वही, पृष्ठ संख्या 80।
6. बच्चन रचनावली, खण्ड-2, सं.- अजित कुमार, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, चौथा संस्करण-2006, पृष्ठ संख्या 370।
7. श्रुति माध्यम से।
8. श्रुति माध्यम से।
9. वाचिक कविता : अवधी, सं.- डॉ. विद्यानिवास मिश्र, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, दूसरा संस्करण- 2005, पृष्ठ संख्या 65।
10. वही, पृष्ठ संख्या 66।
11. श्रुति माध्यम से।
12. श्रुति माध्यम से।
13. श्रुति माध्यम से।
14. वाचिक कविता, भोजपुरी, सं.- डॉ. विद्यानिवास मिश्र, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, दूसरा संस्करण- 2005, पृष्ठ संख्या 68।
15. वही, पृष्ठ संख्या 49।

संपर्क: 09415277070

शिवकुमार अर्चन

70' के दशक से लेखन आरंभ करने वाले शिव कुमार अर्चन का जन्म 05 अक्टूबर 1946 को नरसिंहपुर (मध्य प्रदेश) में हुआ। हिंदी गीत एवं ग़ज़ल के क्षेत्र में विशेष ख्यातिलब्ध अर्चन जी का एक ग़ज़ल संग्रह 'ग़ज़ल क्या कहे कोई', गीत-संकलन 'उत्तर की तलाश', 'ऐसा भी होता है' आदि प्रकाशित हुआ है। अर्चन जी 'सप्तरंग' गीत-संकलन के संपादक रहे हैं तथा आकाशवाणी, दूरदर्शन आदि के काव्यमंचों से आपके गीतों का प्रसारण भी होता रहा है।

पाँच गीत

1.

गीतों के नीलकंठ
उतर रहे सांस पर
बूँद के बिछौने हैं
नरम हरी घास पर
मेघों के झगड़े हैं
बिजली की डांट डपट
पावस में धरा हुई
और निकट और निकट
झींगुर की चिल्लपों
मेढ़क की टर् टर्
बूँदों की फ्राक पहिन
हवा चले फर् फर्
भीग रही नन्हीं सी
गोरैया बांस पर
ओरी से आँगन तक
रिमझिम की डोर है
धीरे से बात करो
हवा चुगलखोर है
मिट्टी से झांक रही
बिरवा की बाहें हैं
सम्हल सम्हल चलना जी
रपटीली राहें हैं

लगी कौन-सी धारा
सूर्य के प्रकाश पर
भीग रहे गिरि कानन
नदी भी नहाती है
उज्ज्वल उज्ज्वल धरती
जाने क्या गाती है
नाले भी कहां रहे
अपनी औकात में
मोती की झड़ी लगी
ताल की परात में
गरज रहे मेघ-दूत
कुंठा संत्रास पर
पेड़ तले भीगती
रंभाती है गैया जो
बादल की कैदी है
घाम की चिरैया जो
पपिहे की कुहु कुहु
फुदकती गिलहरी ने
नृत्यातुर मोर और
हांफती टिटहरी ने
इन्द्रधनुष टांग दिया
भूरे आकाश पर।

2.

कलकल, छलछल
प्रतिपल निर्मल
किसी नदी का, या झरने का
गीत गाओ बंधु
तट पर जब लगते थे मेले
मन होता हो जाएं अकेले
संस्पर्शों के सुख अलबेले
कोई दे दे, यह सब ले ले
झूले पर पेंगें भरने का
गीत गाओ बंधु
ऐसी रही वनों की माया
सूरज कब छू पाया छाया
धरती ने जब अनहद गाया
पत्थर ने भी सुमन खिलाया
धुन सुन चकित हुए हिरने का
गीत गाओ बंधु
कहाँ गए उजले संबोधन
लज्जा के झीने अवगुंठन
हर प्रतिमा का हुआ विसर्जन
खुरच गया माथे का चन्दन
तुलसी पर दीपक धरने का
गीत गाओ बंधु।

3.

और और शब्द करो पैसे
रातों ने छीन लिए
धूप के खिलौने
बुझे बुझे समाधान
जगर मगर चिन्ताएँ
यह कैसे यज्ञ हवन
सांसें की समिधाएँ
जुड़े प्रार्थनाओं के
हाथ हुए दोने
मंचों पर मुद्राएँ
बिन भाषा कथ्य के
बेढंगे संचालन
शातिर नेपथ्य के
क्षत विक्षत पड़े हुए
सपनों के डैने
पूँजी के चाबुक हैं
मेहनत को गाली है
घड़ियाली जबड़ों को
देश एक थाली है
प्यासे को आँसू हैं
भूख को चबैने
मरती इस भाषा को
अक्षर के पर्व दो
रुके थके पैरों को
यात्रा का गर्व दो
दहन करो पुतले, दो
राख के बिछौने।

4.

कंक्रीट के इस जंगल में
मैं अपना घर ढूँढ रहा हूँ
महानगर में एक नगर था
इसी नगर में था इक गाँव
गोबर लिपे पुते आँगन में
नीम गाछ की टंडी छाँव
नई सदी के इन पन्नों पर
वो संवत्सर ढूँढ रहा हूँ
अभी अभी थे, यहीं कहीं थे
कुछ गुलजार गली कूचे
सबको अपनी पड़ी हुई है
कोई किस से क्या पूछे
कोलाहल के तुमुलनाद में
मैं अपना स्वर ढूँढ रहा हूँ
जिनसे नदी पार होती थी
टूट गए रिश्तों के पुल
बाजारों की जनम कुंडली
बांच रही काया थुलथुल
अंधियारे की गहन गुफा में
चकमक पत्थर ढूँढ रहा हूँ।

5.

गाँव कभी मत आना मेरे
खेती यहाँ सलीब की
आए दिन का मूड़ फटौवल
अगड़े पिछड़ों में होता
जीभ सरीखा गाँव बेचारा
खूनी जबड़ों में रोता
पंचायत का राज है लेकिन
आफत बहुत गरीब की
नदी सूखकर कांटा हो गई
अमराई का नहीं पता
दिन दूने अपराध बढ़ रहे
न्याय नियम की जले चिता
बौने हैं अधिकार यहां पर
किससे कहें नसीब की
बीज, खाद, फसलें उधार की
दो हाथों को काम नहीं
भूमि पुत्र कर रहे खुदकुशी
मरे बिना आराम नहीं
हिंसक है बाज़ार, व्यवस्था
बातें हैं तहज़ीब की

संपर्क:

10, प्रियदर्शिनी ऋषि वैली,

ई-8 गुलमोहर एक्सटेंशन, भोपाल- 462039 (म.प्र.)

मो. 09425371874

डॉ. मंजुला चतुर्वेदी

प्रो. एवं अध्यक्ष ललित कला विभाग,
म. गां. का. वि. वाराणसी,

जिन्दगी

जिन्दगी को मैंने देखा है
बहुत करीब से
उसकी अपनी गति है,
कभी वह जी.टी. रोड पर
सरपट दौड़ती है,
कभी सरक कर
खेतों खलिहानों में
चली जाती है,
कभी वह फूली सरसों के
बीच से लहराती है,
तो कभी सौंफ-सी महकती है,
कभी गड्ढे में उतर जाती है
और कभी उससे निकल कर
सहम-सी जाती है।
मैंने जिन्दगी को
काले जले हुए टूँठ के पास भी बैठे देखा है,
उदास-उदास सा
पंजाब और कश्मीर की वादियों में
और कभी उसे चिड़िया बन
पेड़ के कोटर में भी देखा है कुछ ढूँढ़ते हुए।
कभी वह नीलकण्ठ सी उड़ती है
तो कभी बया सा अपना घोंसला बुनती है
तुम जिन्दगी को सिर्फ अपने ही उपवन में
क्यों देखना चाहते हो
मेरे दोस्त !
वह तो कभी मेरी झोली में
और कभी उसकी झोली में चली जाती है।
कल मैंने जिन्दगी को एक नये अंदाज में देखा है
बच्चे की पायजेब से खनकते हुए
फिर उसकी खिलौना गाड़ी में वह ठहर जाती है
नन्हा बालक जिन्दगी को
अपने हिसाब से खींचता है

उस समय जिन्दगी
मुस्काती-सी लगती है
यहाँ वह हार मान जाती है
अपनी चाल से
और सौंप देती है स्वयं को
एक नये नन्हें
खिलाड़ी के हाथ।

प्रतीक्षा

अहिल्या नहीं
सीता भी नहीं
मैं हूँ एक औरत
सिर्फ एक इन्सान
वोल्गा से गंगा तक का सफर
तय किया है मैंने
भविष्य की प्रत्याशा में
जना है कितने मनुओं को
आँखों में शून्य आकाश लिये
चलते-चलते
थक गयी हूँ मैं
धातु की ठण्डी सड़कों पर
मेरे दोनों हाथ
थामना चाहते हैं बादलों को
एक अन्तहीन तलाश
जीवन के होने की
इन्तजार है गोडो का
गोडो जो कभी नहीं आया
और न आएगा
यह जीवन अपरिभाषित रहा है
शायद इस बार भी
अपरिभाषित ही रह जाएगा।

स्वप्न-कलश

स्वप्न-कलश चटक गया
जल सारा बिखर गया
भोर हुई
तारों ने विदाई ली
सूरज की रेख से
दिन नया निकल आया
रात भर स्वप्न में
अकेले चला था जो राही
ऊँची-नीची लम्बी सी
राह पर
थैले में चाँदी के
सिक्के लिये
देखे थे जिसने
चारों ओर अभ्रक के
चाँदी से चमकते पहाड़
चल रहा था
कविता के छन्द सा।
अचानक एहसास हुआ
किसी साये का,
राही ठहर गया,
भय से तोते से
जाग गया,
यह छाया कोई और नहीं
समय था
जो दस्तक दे गया
ऐसे ही समय
के साये में चलते रहे हैं हम
कभी आकृति बन तो कभी छाया
यही है परिभाषा-जीवन
और यही है जीवन का
क्रम और विभ्रम

स्वप्न और सत्य
बिखरता, टूटता, चमकता सा
कुछ-कुछ पीछे दुलकता सा।

नव रचना

नयी पीढ़ी
रचना चाहती है एक चित्र
जिसमें आकाश हो,
धरा हो, समुद्र हो
समुद्र में प्यार हो
और प्यार
सागर तट पर बैठे
दूर से आये पथिक को
सराबोर कर
स्वयं लौट जाए
नये रूप में
आने के लिए
नवरंग लेकर
लाल और पीले नहीं
बस नीले और श्वेत
कुछ कुछ गुलाबी
कुछ उजले से
ऊपर टँगा आकाश
क्षितिज रेख पर उतर आए
नव रचना रच जाए, टँग जाए
कलयुग की काली दीवारों पर
जहाँ बरसों से लगी है
खाली, जंग लगी एक कील।

संपर्क : 09415451218

सुधीर रंजन सिंह :

पटना कॉलेज पटना से लेकर जे. एन. यू. दिल्ली तक का शैक्षणिक सफर।
अब तक 'और कुछ नहीं तो, 'मोक्षधारा' (कविता संग्रह), भर्तृहरि: 'कविता
का पारस पत्थर' (काव्य अनुरचना), 'हिन्दी समुदाय और राष्ट्रवाद' तथा
'कविता के प्रस्थान' आलोचना पुस्तकों का प्रकाशन।
संप्रति: साहित्यिक रचना एवं आलोचना से सम्बद्ध।

बुद्ध्य

यह एक बड़े तालाब की तरह है
जो मौसम के हिसाब से
घटता-बढ़ता रहता है
और सूखने से पहले तक
जिसके तल और किनारे होते हैं
पानी सूखने के बाद
शुरू होता है
धूल के कणों का
जीवन
कुछ देर के लिए
धूल के कणों की तरह
यह भी उड़ लेता है
और बिखर जाता है
मरता नहीं
कहीं ठहर जाता है
देह के रोमों में
पुलकते हुए जब लौटता है
दिखाई देता है दिल के आकार की
तैरती मछलियों की तरह।

यह मैं हूँ सड़क पर

यह मैं हूँ सड़क पर
गाड़ी दौड़ाता हलहलाते हुए
किसी की बगल से निकल जाता हूँ
और देखता हूँ आईने में
पीछेवाले की घायल मुद्रा
डर समाता है कोशिश करेगा वह भी
आगे निकलने की
और खास भीड़ वाली जगह पर
निकलकर आगे
एक पल के लिए रुकेगा
और मारेगा हवा में मुक्का
खेतों में जैसे टंगा होता है डरौना
कुछ देर के लिए पीछेवाला
टंग जाता है मेरे दिमाग में
टंग जाती है कुछ देर के लिए
मेरी गति
निकल जाती हैं कई गाड़ियाँ
मुझसे आगे
और मैं मारता हूँ
हवा में मुक्का
यह मैं हूँ सड़क पर
दौड़ाता हुआ
घायल।

सड़क सुन्दर कविता है

1.

कविता और सड़क में इतनी समानताएँ हैं
गति से लय से कि हमारे होने से
कि कविता की पंक्तियों में भटकते हुए
किसी घुमावदार सड़क पर चलना लगता है
और कभी सड़क पर चलते हुए होता है अनुभव
कई कविताओं से गुजरने जैसा

आकस्मिकताएँ अनोखी
सड़क पर कविता में हैं

कुछ भी आए जाए
कुछ से कुछ टकरा जाए

जो पहचाना-सा है
वही नया-सा है
जो अपना-सा है
वही पराया-सा है

सड़क और कविता का मतलब
एक जैसा है
दिखता जहाँ बहुत कुछ है
और कुछ भी कुछ नहीं है।

2.

सड़क से गहरा रिश्ता देखा जा सकता है
हमारी हिन्दी कविता का

इलाहाबाद के पथ पर
नहीं छायादार पेड़ देखा निराला ने जिस दिन
वह कविता के एक आन्दोलन के खत्म होने का दिन था

तोड़कर पत्थर
सड़क बनाने का काम
एक सुन्दर कविता है....

महाकवि
सीखा तुमसे
सड़क कितनी आनुप्रासिक है!

3.

बहुत सारे रास्ते हैं
जीवन के आने जाने के
और बहुत सारे रूपक हैं
इस दुनिया को जानने के
लेकिन सड़क का रूपक इतना माकूल है
कि लिखने के लिए कविता
किनारे सड़क के
एक पेड़ बन जाने की इच्छा होती है।

दुख

जलते हुए मकान से
प्राणों के निकलने का
केवल रास्ता था

पास का तालाब
सूखा था
धुएँ की उस पर
एक महीन परत
पड़ी थी

इस वक्त बस
मेहरबानी करके
कोई पुकार लेता मुझे
मेरे नाम से।

संपर्क :

65, शुभालय विला, पिपलानी,
भोपाल- 462022, मो. 09406542866

काली प्रसाद जायसवाल

कलकत्ते के समाजसेवी एवं कवि।

विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में कविताएँ प्रकाशित।

बूँद

मैंने जो सीखा था
अपनी माँ से
और मेरी माँ ने
सीखा था, अपनी माँ से
मेरी बिटिया
वही मैं तुमको
आज सिखाती हूँ
ससुराल में
मत हसना ठठा के
रोना मत बात बात में
भरभरा के
भूल जाना
टी.वी. सीरियल, सिनेमा के गाने
वहां चलना सम्हल के
नहीं तो गिर ही पड़ोगी
हड़बड़ा के
दिन भर हाड़तोड़ खटना
देर रात गए
सबके पीछे सोना
खबरदार
जो देखा कोई सपना

पति के लिए करवा-चौथ
औलाद के लिए छठ-पूजा
नहीं है और कोई
धर्म-दूजा
यह तन यह मन
सब दूसरों का
बस स्वामी, पुत्र सेवा ही
है कर्म अपना
सुनकर माँ की बातें
बेटी को याद आती है
बाप के मुँह से आती
शराब की महक
उसकी आँखों से
माँ को देखती है बेटी
कि माँ भी पगली
भूल जाती है
कि बेटीयाँ जन्म लेती हैं
गर्भ से ही
ये सब कुछ सीखकर
यदि बच जायें
भ्रूण हत्या से।

पिता से मुलाकात

एक दिन पिता छूट गये थे
वे जहां छूट गये थे
वहां से उन्हें खोजने के लिए निकला
वे नहीं मिले
वे मेरी पहुँच के
बाहर चले गये थे
कुछ अचानक छूट जाता है
तो वह ताउम्र नहीं मिलता
छूटना नियति में शुमार है
पर
उम्र के ढलते पड़ाव पर
एक दिन पिता मिले
अपने ही अन्दर
किसी से बतियाने को
तरसते
बहुओं के मन की बातें
बेटों के मुँह से सुनते
घुटनों के दर्द से ज्यादा
मन की पीड़ा सहते
और यह कहते
पिता से मुलाकात
बुढ़ापे में होती है।

तुम्हारे नहीं रहने पर

तुम्हारे नहीं रहने पर
अब कमरा
घर नहीं लगता
तुम्हारे नहीं रहने पर
अक्सर कमीज के बटन
टूटे हुए मिलते हैं
तुम्हारे नहीं रहने पर
जेब में
अक्सर रूमाल नहीं होता
तुम्हारे नहीं रहने पर
अब इच्छायें पंख नहीं फैलातीं
तुम्हारे नहीं रहने पर
न रंग न गंध न मौसम न मंजर है
तुम्हारे नहीं रहने पर
न हौसला रहा क्षितिज छूने का
तुम्हारे नहीं रहने पर
यादों के सावन-भादों में
भींगता रहता है मन
तुम्हारे नहीं रहने पर
सहेज कर रखे तुम्हारे जूड़े से
गिरे हुए फूलों को
छूकर देखता हूँ
तो सुगन्ध से भर जाता हूँ
और इन यादों से
बचा हुआ है
मेरा थोड़ा बहुत जीवन।

संपर्क:

22, सरकार लेन, कोलकाता- 700022

मो. 9831321257

तसवीर

तसवीर लगी होती है
 कमरे के कोने में,
 कभी बीचोबीच,
 दीवार पर या तिपाई पर,
 ध्यान लेती हुयी सबका अपनी ओर,
 जादूगर होती हैं तस्वीरें
 समाती जाती है भीतर
 लगता है हमारी दुनिया है तसवीर
 वो खास जो
 घर की पेशानी पर लगी होती हैं,
 जब कोई तसवीर उतर जाती है सीने में
 किसी फ्रेम में नहीं जड़ी होती वह,
 थक हार कर हम
 दे बैठते हैं इसे कोई संबोधन,
 दिनों तक बैचन करने के बाद
 दफन हो जाती है भीतर,
 कुछ तसवीरें हमेशा सर उठाती है,
 दिल बसी कुछ तसवीरों से
 डरता है इंसान, नहीं होना चाहता रूबरू
 लिये घूमता है नासूर,
 तसवीरों से पुराना रिश्ता
 युगों से सहेजा गया है,
 तसवीरों ने बचा रखी है
 संस्कृति, सभ्यता, विज्ञान, इतिहास, भूगोल
 और हमारे मन का कौटिल्य शास्त्र भी,
 हमें तसवीरों की दयनीय स्थिति सुधारनी होगी
 कुछ तसवीर समाज से हो जाती है बहिष्कृत
 हम बदलना चाहते हैं तसवीरों की धाराएँ,
 तसवीरें हमें बदलना चाहती हैं,

रीता राम

शोधार्थी, मुम्बई विश्वविद्यालय, मुम्बई। प्रथम काव्य संग्रह 'तृष्णा' प्रकाशित। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में कविताओं का प्रकाशन।

हम तसवीर होने लगे हैं बीच तसवीरों के,
 बहुत सी तसवीरें चौराहों के बीच लगी होती हैं,
 देश के सीने पर जो तस्वीर गढ़ी होती हैं
 अच्छी लगती हैं।

जी ही लेते हैं

क्या बदल जाता है
 स्वीकार कर लेने के बाद
 ख्वाबों का सच..... ?
 नहीं न.... !
 कुछ भी तो नहीं।
 नहीं छूटता जीना
 बिना जज़्बात लिये
 पत्थरों सा,
 सारी जिन्दगी हम
 पोषित करते हैं
 ख्वाबों को खाद डालकर,
 क्या जरूरी है
 मिट्टी को बचाये रखना,
 बेसाख्ता खड़ी हो जाती हैं
 चुंधियाते ख्वाबों के
 नजर आने के बाद ही
 और समर्पित हो जाते हैं हम
 जिंदगी के मायने बदलते हुये,
 जाने भी दो ना
 जी ही लेते हैं
 चुस्की के साथ
 एक प्याली जिंदगी
 हौले हौले
 रखकर अपनी आत्मा को किनारे बहरहाल।

दुल्हन

आईने को
एकदम करीब लाकर देखना
मस्करा ठीक लगा है या नहीं
लिपस्टिक के किनारे
कहीं ज्यादा फैले तो नहीं
या एक लेयर और लगानी चाहिये,
दोनों गालों पर
रूज का शेड ठीक तो है ना
घूँघट उठाकर देखना
कि देखते हुये लगूँगी कैसी,
एक बार निहारना आगे से
और फिर देखना पीछे से कि
हील्स का कितना हिस्सा आता है नजर
घाघरे के नीचे से,
इसी बीच भूल जाती है
शरमाना शायद पर्स कि किसी जिप में,
लगता है जैसे कह रहे जज्बात,
बदला हुआ है जमाना
लोग तो समझ ही लेंगे
दुल्हन हूँ तो क्या हुआ
इस लम्हे को जीना
है ज्यादा जरूरी,
बेझिझक कैमरा मैंन कहता है....
किसी का ध्यान नहीं है मैडम
आप जरा हाथ रखें इनके कंधे पर
फोटो अच्छी आयेगी,
और बेतकल्लुफ़ हो जाती है दुल्हन
सिर्फ और सिर्फ अपने लिये।

मुंबईकर

स्टेशन के ब्रिज से
देख रही थी निरंतर
आती जाती लोकल रेलगाड़ियाँ
और बेसब्र भीड़,
अपने गंतव्य पर
पहुँचने की बैचेनी लिये प्रतीक्षारत,
भीड़ में हर कोई अकेला
परेशानी लिखी चेहरे पर संगीन,
'एकला चलो रे' की तर्ज पर
परिस्थिति से न स्वीकारता हार
चल पड़ता है दिन-प्रतिदिन
ये जन सैलाब
मुंबईया लोकल समाज
अपने जीवन संघर्ष में
न होता धराशायी
फिर भी पुरस्कृत, स्वतः स्फूर्त
जीवन से जुड़ता
निष्क्रिय सफलता की न कर परवाह
बिम्बों की ध्वनि से
राग सहेजता
करता जुगाड़ हर बिखरे, हारे
माहौल को समेट
समर्पित हर विपरीत स्थिति, संयोग
को ले हाथोंहाथ
कुछ बुनता है वक्त में हौसला,
तटस्थ वक्त की दरार में
कल्पित, स्थापित मेहनत के सानिध्य से
जिंदगी का आधा सफर
लोकल में तय करता मुंबईकर।

संपर्क :

34/603, एच. पी. नगर पूर्व, वासीनाका, चेंबूर,
मुम्बई-74, मो. 09619209272

रूपेश कुमार

छात्र, एम.ए. द्वितीय वर्ष
कलकत्ता विश्वविद्यालय

एक प्रश्न मेरा भी

मैं उठा	एक बच्ची की कलम	फिर
और	एक बच्चा छीन रहा है	उसकी पत्नी इसकी बेटी
खड़ा हो गया	और	इसकी बहू, उसकी बीवी
आइने के सामने	बड़े बुर्जुग उसे रोकने की बजाय	बस
ताकने लगा	उसका साहस बढ़ा रहे हैं	मिल गयी इतनी सी पहचान
अपना अक्स	मैं स्तब्ध था	प्रश्न क्या ?
कहीं वह	अभी-अभी तो जागा था	यह नहीं, कि
बिगड़ तो नहीं गयी है	इतने ही देर में	क्यों छिनी गयी थी
अभी	बच्ची रोते-रोते	उसकी कलम
मैं ताक ही रहा था	अपनी माँ के पास गयी	क्यों मिलती है पहचान उसकी
कि	माँ ने उसे	परिवार से
एक बिजली कौंधी	कलम की बजाय	क्यों माँ ने
इस बेजान शरीर में	फूलों की माला दे दी	खिलौने की बजाय
मुझे लगा	फिर क्या ?	हाथों में दे दी फूलों की माला
शायद	बंधन की बेड़ियाँ	ये सारे प्रश्न हैं
बीते रात की स्मृति स्वप्न के कारण	पड़ गयी पैरो में	उस लड़की से जुड़े हुए
ऐसा हुआ है	न वह	इस समाज में
फिर एक अजीब सी	चौखट पार कर सकती है	देखें
आवाज़ सुनी	और न ही	क्या हल निकलता है
जिनमें शब्द थे	घुँघट हटा सकती है	इन प्रश्नों का
नहीं... नहीं... नहीं...	बस	इनकी जलेगी मशाल
मैं सहम सा गया	अपने माले की हिफाजत ही	या फिर
भागा-भागा	बन गया उसका धर्म	बर्फ की चादर ओढ़े
आँगन में आया	चूल्हे की गुलामी	सो जायेगी
पाया कि	बन गयी उसकी जिंदगी	हमेशा के लिए....

संपर्क : 9874737544

पापा आ बहे हैं!

डॉ. राणा प्रताप

अध्यक्ष, हिंदी विभाग, जे.एल. कॉलेज,
हाजीपुर, वैशाली। सुपरिचित कथाकार एवं
'कथांतर' पत्रिका के संपादक।

“जानती हो सरिता?”

“क्या?”

“कल अरूप की बेटी का फोन आया था।”

“क्या बोल रही थी?”

“पापा से बात करना चाहती थी।”

“तब?”

“अरूप तो यहाँ है नहीं। अरूप को आने से उसको बोल दूँगी।”

“कृष्णा से बात हुई थी?” सरिता ने पूछा।

“नहीं.....। रात में अरूप के बेटे का भी फोन आया था। अभी वह कोटा में पढ़ रहा है। वहीं से फोन आया था। वह भी अपने पापा से बात करना चाह रहा था। देखों न, उसने भी अपना नंबर दिया है।”

सरिता ने पूछा, “आखिर इतने दिनों बाद उन लोगों को अरूप की याद कैसे आ रही है?”

“तुम नहीं जानती। अरूप को अपने बेटा-बेटी से बहुत प्यार है।” रूपाली ने जवाब दिया।

“इसमें कृष्णा की कोई चाल तो नहीं?”

“नहीं रेऽऽ! उससे भी एक दिन बात हुई थी, बोल रही थी, मैं एक दिन पटना आती हूँ। आप लोग अरूप से बात करके रखना। अगर वह चाहेगा तो मैं तलाकनामे पर भी हस्ताक्षर कर दूँगी।”

“इस पर आप क्या बोलीं?”

“मैं क्या बोलती। कृष्णा ने तो उस वक्त खुद बात करने से इनकार कर दिया था। अरूप तो अब यहाँ है भी नहीं। न जाने कहाँ चला गया। ऊपर से सीजोफ्रेनिक भी है।”

“कृष्णा ने तो पहले उसका इलाज भी करवाया था।”

“हाँ, तभी तो वह ठीक भी हुआ था। अलग रहने के कारण उसकी बीमारी और भी बढ़ गई है। अब तो हमलोगों पर भी संदेह करने लगा है।”

“कैसा संदेह?”

“सुनो तो, पिछले दिनों बहन के यहाँ कोलकाता गया। पन्द्रह दिनों तक वहाँ रहा। एक दिन वहाँ से भी भाग आया। बहन का फोन आया था मेरे पास। बता रही थी, दस दिनों तक तो वह खूब मजे में रहा। फिर वह किचन में जाकर खुद बनाकर खाने लगा। पूछने पर कहा, खाने में तुम ज़हर दे दोगी तब? बहन ने तो माथा पीट लिया।”

“यह सब सुनकर तो लगता है, उसकी बीमारी और ज्यादा बढ़ गई है। पहले तो उसके इलाज के बारे में आप लोगों को सोचना चाहिए।”

“इलाज कौन करायेगा रेऽ! उसको अपने भाई पर विश्वास है? यहाँ भी तो उसने वैसा ही किया न?”

“क्या किया? हमलोगों से तो अभी भी हँस करके ही बात करता है।”

“पहले तो वह हमीं लोगों के साथ खाता-पीता रहा। अचानक एक दिन वह अपने कमरे में बंद हो गया। बाजार से सामान लाकर खुद बनाने-खाने लगा। किसी दिन ज्यादा बन जाता, तो हमारे यहां पहुंचा देता। मैं कुछ बोलने के बजाय चुपचाप रख लेती। फिर से उसे छौंक-छाककर खा लेती। अगर फेंक देती और उसे मालूम पड़ जाता, तो वह कितना बुरा मानता।”

“लेकिन रूपा दी, ऐसे कितने दिनों तक चलेगा? इलाज तो किसी न किसी को कराना ही पड़ेगा।”

“यही तो मुश्किल है। हम लोग भी क्या करें? किसी की कुछ सुनता भी नहीं।”

“जेटू से कोई बात नहीं होती। उसकी पत्नी तो खुद नर्स है। चाहे तो इलाज की व्यवस्था हो सकती है।”

“किसकी बात करती हो सरिता! उसकी नजर तो सिर्फ मकान पर लगी हुई है। माँ अपने वसीयत में मकान का आधा हिस्सा अरूप के नाम कर गई है, लेकिन जेटू ने मकान अपने नाम रजिस्ट्री करवा लिया है। अब, ऐसी स्थिति में वह अरूप को एक नजर देखना भी नहीं पसंद करता है।”

“पूर्णिया में कितने शौक से अपनी बीवी के नाम से मकान बनवाया था। बीवी ने उसे घर से ही निकाल दिया। यहां बड़ा भाई भी उसे बेदखल कर रहा है। आखिर बेचारा कहां जायेगा?”

“अब तो उसकी नौकरी भी खतम होने वाली है। ऑफिस से ‘लेटर’ आया है कि अगर एक महीने के भीतर वह ‘ज्वाइन’ नहीं करता तो उसे नौकरी से हटा दिया जायेगा। अब तुम्हीं बताओ, हम उसे कहाँ-कहाँ ढूँढें?”

“लेटर पर मुहर किस शहर का था?” सरिता ने पूछा।

“मधेपुरा का।”

“इसका मतलब है कि वह पूर्णिया नहीं, मधेपुरा में पोस्टेड था।”

“सरिता, तुम तो शिखा से मिलने पूर्णिया गई थी?”

“हाँ, गई तो थी।”

“कृष्णा से मिली थी?”

“हाँ, मिली थी।”

“क्या बोल रही थी वह?”

“बोल रही थी, अब तो किसी भी कीमत पर अरूप को घर में घुसने नहीं देगी। मैं अपने दोनों बच्चों के साथ बहुत खुश हूँ। उसने तो जीना हराम कर दिया था।”

“आखिर बात क्या थी? कुछ बताया उसने?”

“मुझे तो लगता है, इसमें अरूप का भी कम दोष नहीं है।”

“वह कैसे?”

“अरूप वेटनरी डॉक्टर था। अपने प्रभाव का इस्तेमाल करके स्वास्थ्य विभाग में कृष्णा की नौकरी तो उसी ने दिलवाई थी। फिर उसी ने कृष्णा के चरित्र को लेकर शक-शुबहा करना भी शुरू किया। छोटे-छोटे बच्चों के सामने माँ को जलील करना। आप ही बताइए रूपा दी, उस समय कृष्णा को कैसा लगता होगा?”

“लेकिन अरूप तो ऐसा नहीं था। लगता है, कृष्णा से जरूर कोई बड़ी गलती हुई है।”

“उससे बड़ी गलती यही हुई कि अरूप से तंग आकर उसने अपनी बड़ी बहन के जवान बेटे को घर बुला लिया और उसके साथ रहने लगी; और शक की इंतहा देखिये, वह उस पर भी शक करने लगा।”

“और कुछ कह रही थी?” रूपाली ने पूछा।

“हाँ, अरूप के नाम से वहां एक प्लॉट है। उस प्लॉट को दोनों तरफ से बगलवाला हड़पता जा रहा है। जमीन का कागज कृष्णा के पास है नहीं। इसलिए वह चाह रही है कि अरूप से वह कागज किसी भी कीमत पर हासिल करे।”

“अच्छा-अच्छा! अब समझी। तो इसीलिए कृष्णा बेटी और बेटे से अरूप को फोन करवा रही थी।”

“मैं तो तभी आपसे कह रही थी कि इसमें जरूर कृष्णा की कोई चाल है। आप मान नहीं रही थीं और कह रही थीं कि इस बार कृष्णा तलाकनामे पर भी हस्ताक्षर करने के लिए तैयार है।”

“सच, कृष्णा कितनी चालाक है। अब बेटा-बेटी को भी होशियार बना रही है।”

छह महीने बाद अरूप पुनः लौटा। चाबी जहाँ टांग कर गया था, वहाँ से उठाया और कमरे में बंद हो गया।

दादा ने पूछा, “इस बार कहाँ गया था?”

“उड़ीसा घूमने चला गया था।” उसने बताया।

रूपाली को जब मालूम हुआ अरूप आ गया है, वह मिलने गई और बताया, तुम्हारी बेटी का फोन आया था। तुमसे बात करना चाहती है। मगर उसने अपनी ओर से फोन नहीं किया।

रात में जब तुली का फोन आया। उसने पूछा, “कौन?”

“पापा, मैं तुली बोल रही हूँ।”

“तुम तुली नहीं, कृष्णा हो।”

“नहीं पापा, मैं तुली बोल रही हूँ। आप जिस छोटी तुली को छोड़ गये थे, वह अब बड़ी हो गई है। इसीलिए आप आवाज़ नहीं पहचान रहे हैं।”

“कृष्णा ने फोन करने के लिए कहा है?”

“नहीं पापा! मैं आपसे मिलना चाहती हूँ।”

“मिलना चाहती हो तो मम्मी को छोड़कर आ जाओ। मैं तुम्हें ज़मीन का एक प्लॉट और दस लाख रुपये दूँगा। और हाँ, मम्मी के कहने से कभी फोन मत करना।”

उसी रात बेटे का भी फोन आया, कोटा से। अरूप ने फोन तो रिसीव किया, मगर डांटा भी, “फिर कभी कोटा से फोन मत करना। पढ़ने गये हो तो पढ़ने में ध्यान लगाओ। मम्मी के पचड़े में मत पड़ो, और उसने मोबाइल का लाइन काट दिया।”

उधर बेटा-बेटी दोनों ही माँ से नाराज, “मम्मी, किस पापा से बात करने को कहती हो? वो तो पूरी तरह पागल हो चुके हैं। अब, बात करने के लिए कभी तंग मत करना।”

कृष्णा भारी सोच में पड़ गई! अब, क्या करें? उसने पुनः रूपाली को फोन किया, ‘रूपा दी, आप ही कुछ कर सकती हैं। जेटू से कहो न अरूप से बात करे।’

“वह किसी का सुनता है। अब तो हम लोगों को भी वह अपनी जान का दुश्मन समझने लगा है।”

“कल को तुली की शादी करूँगी और वह कहीं से आकर धमक जायेगा, तो मैं क्या करूँगी?”

“यह तो पहले सोचना था। तुम लोगों ने बीमारी को इतना बढ़ा लिया है कि अब इलाज करना भी मुश्किल है। उस वक़्त मैंने तुमको कितना समझाया था, लेकिन तुम जिद पर अड़ी रही। अरूप कुछ भी है, है तो वह तुम्हारा

पति।”

“हुंह! पति!” उसने बिचका लिया।

खैर, दो ही चार दिन बाद। वह अपने दोनों बच्चों के साथ पटना आई। मिलन सुखद था! मगर बातचीत तलख। पहले तो पूरे कमरे में प्लॉट वाले कागज की तलाशी हुई। मगर कागज कहीं नहीं मिला। बेटे ने बताया, “मम्मी-मम्मी, बक्से में द्वाई हजार रुपये हैं।”

“छोड़ दे उसको। पैसे नहीं रहेंगे, तो खायेगा क्या?”

“अब क्या करें मम्मी?”

“इसी को उठाकर ले चलो।”

इतना सुनना था कि अरूप ने कसकर पलंग को पकड़ लिया और सिर तथा पाँव को पलंग से टिका लिया, ताकि उसे कोई हिला भी न सके।

इस दृश्य को देखकर पहली बार रूपाली के दिल में कृष्णा के प्रति नफरत के भाव जगे! आखिर कृष्णा चाहती क्या है? इस तरह से तो कोई जल्लाद भी अपने शिकार के प्रति पेश नहीं आता?

तभी कृष्णा ने बहन के बेटे को फोन लगाया, “यहाँ तो कुछ भी नहीं है। अब, क्या करें? उसे उठाकर लाना तो और मुश्किल है।”

“बेहोशी का सूई लगाकर लाओ, लेकिन छोड़ो मत। वह तुम लोगों को देखकर नाटक कर रहा है।”

लेकिन यह बात कृष्णा को कुछ रूचा नहीं। बच्चों ने भी ऐसा करना उचित नहीं समझा। बेटे ने कहा, “चलो मम्मी! यहाँ कुछ भी नहीं है।”

बेटी ने माँ को सलाह दी, “छोड़ो न मम्मी! पापा को क्यों इतना तंग कर रही हो। वह जैसे चाहें, रहें।”

इतना सब करने के बाद कृष्णा चली गयी। बच्चे भी चले गये।

उन लोगों के चले जाने के बाद अरूप ने राहत की सांस ली, लेकिन उसे राहत अभी कहां मिलने वाली थी? शाम को मंझला भाई ऑफिस का लेटर लेकर आया। उसने उसको समझाया, “यह लोड, तुम्हारे ऑफिस से लेटर आया है। लिखा है, एक महीने के अंदर अगर ड्यूटी नहीं ज्वाइन करते हो, तो नौकरी से बर्खास्त समझे जाओगे। क्या इरादा है तुम्हारा?”

“देखते हैं।” अरूप ने जवाब दिया।

“देखना-उखना कुछ नहीं है। एक-दो दिन में नहा-धोकर तैयार हो जाओ और ड्यूटी ज्वाइन कर लो। कहो, तो हम भी साथ चलते हैं।”

“नहीं, आपको जाने की ज़रूरत नहीं है। मैं खुद चला जाता हूँ।”

और कमाल! उसने जाकर ड्यूटी ज्वाइन कर ली। इस बार उसे कटिहार भेज दिया गया।

लेकिन यह क्या? भागा-भागी वाली उसकी दिनचर्या पूर्ववत् बनी रही। अब, वहाँ के चपरासियों का बार-बार फोन आने लगा कि डॉक्टर साहब हम लोगों के सेलरी बिल पर साइन नहीं करेंगे तो हम लोगों को तनखाह कैसे मिलेगी? लेकिन डॉक्टर साहब तो फरार।

कभी घर के अंधेरे कोने में बंद, तो कभी शहर से ही गायब। नहाना-धोना, खाना-पीना सब बंद। दाढ़ी-बाल बढ़ाये वह विक्षप्तों की तरह साफ दीखने लगा था। कभी बड़का भोजन के लिए पूछता, कभी मंझला, लेकिन क्या मजाल कि वह कमरे का दरवाजा खोलता। इस तरह खाने-पीने की उसकी सुध-बुध भी जाती रही।

ऐसे में तुली ने एक दिन फोन किया, “पापा, आप जैसे भी हैं, मेरे पापा हैं। आप यहीं आ जाइए और हम लोगों के साथ रहिये। हम लोग आप को जरा भी तंग नहीं करेंगे।”

“क्या तुम्हारी मम्मी ने तुमसे फोन करवाया है?” अरूप ने पूछा।

“नहीं पापा! मैंने खुद से आपको फोन किया है। आप हमारे साथ रहेंगे तो हमें अच्छा लगेगा।”

“कृष्णा को बुरा नहीं लगेगा?”

“अब तो वह भी आपके बारे में सोच-सोचकर परेशान है। कभी-कभी तो आँख में आंसू भी आ जाते हैं।”

“ऐसा?”

“हाँ, पापा! मैं सच बोल रही हूँ। आपके बिन कुछ भी अच्छा नहीं लगता। लोग भी न जाने क्या-क्या बोलते रहते हैं। मुझे यह सब सुनकर अच्छा नहीं लगता।”

“अच्छा, ठीक है। मैं खुद आकर देखता हूँ, क्या बात है?”

“सच पापा, आप आ रहे हैं?”

यह सुनकर कि पापा घर आ रहे हैं, तुली की खुशी का ठिकाना ही नहीं रहा। उसने मम्मी को बताया, “पापा आ रहे हैं।” मगर मम्मी को विश्वास क्यों होने लगा? फिर भी उसने मन ही मन सोचा, “क्या ऐसा संभव हो सकता है?”

मानव मस्तिष्क बड़ा अजीब है। कभी-कभी सोचे का बिल्कुल उल्टा हो जाता है। आप सोचते कुछ हैं, और घटित कुछ और होता है। आप दांतों तले उंगली दबा लेते हैं। ऐसा तो मैंने कल्पना में भी नहीं सोचा था।

कृष्णा बार-बार सोचती, अपने मन को समझाती; लेकिन मन मानने को तैयार नहीं होता। क्या कहा था उसने, “एक बूंद पानी के लिए तड़प-तड़प कर मरोगे। फिर भी मैं देखने नहीं आऊंगी।”

लेकिन यह क्या? वह तो सशरीर उपस्थित था। तुली ने आगे बढ़कर पापा का स्वागत किया। कृष्णा ठगी-सी चुपचाप देखती रही।

दरअसल, अरूप को कृष्णा की बड़ी बहन के बेटे से डर लगता था, कृष्णा से नहीं; और इस वक्त उसकी बहन का बेटा वहाँ था नहीं। यह बात उसे रूपाली से मालूम हो गयी थी।

अरूप को वहाँ रहते अभी सप्ताह भर भी नहीं बीता था कि कटिहार से सूचना मिली, अरूप का प्रमोशन हो गया है और उसे सासाराम हेड-क्वार्टर में ज्वाइन करना है। वह भागा-भागा कटिहार पहुँचा और लेटर लेकर सासाराम ज्वाइन कर आया। प्रमोशन की बात सुनकर जेटू और मंझले को भी खुशी हुई।

रूपाली ने सरिता को बताया, “चलो, अच्छा हुआ सरिता। अब रिटायरमेंट भी ले लेगा तो अच्छा-खासा पेंशन मिलेगा। उसी में खा-पी लेगा। अंतिम समय में कष्ट तो नहीं उठाना पड़ेगा। कृष्णा भी फोन पर यही बात कह रही थी।”

यह सुन सरिता के मन को भी एक संतोष मिला। बोली, “चलो अच्छा हुआ, नाव किसी किनारे तो लग गयी।”

संपर्क : 09234763168

हिंदी दिवस पर विशेष

उभका आशमान

जितेन्द्र शर्मा

वरिष्ठ कथाकार, तीन कहानी संग्रह और एक उपन्यास प्रकाशित। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में कहानी एवं कविताएँ प्रकाशित होती रहती हैं।

उसे सिसकते हुए देखना ऐसा था जैसे गुलाब की खिली कली को पैरो तले कुचलते देखना। वह तेरह वर्षीय चिकना चुपड़ा भोला बच्चा असेम्बी हॉल के बगल में बूढ़े चीड़ के पेड़ के नीचे अकेला खड़ा था। शाम को कोई बच्चा अक्सर अकेला नहीं रहता। बोर्डिंग स्कूल में बच्चे शाम को खेलने के बाद ऊपर डैमेट्री में जाकर नहा-धोकर, साफ-सुथरे कपड़े पहनकर नीचे उतर आते हैं। वह अकेला उदास खड़ा था। प्रफुल्लता के माहौल से बिल्कुल अकेला अलग-थलग। मुझसे रहा नहीं गया। मैं उसके पास गया। मैं उसका क्लास टीचर था। वह इंग्लैण्ड से मसूरी में पढ़ने आया था। उसे यहाँ आये छः महीने हो गये थे।

वह गुस्से में था और दोनों हाथों से अपने बाल खींच रहा था। चेहरे पर उदासी और आक्रोश का भाव था। गालों पर आँसुओं की बूंदें छलछल रही थीं।

मुझे देखकर वह चीखा 'ब्लडी डैड'

राजीव क्या बात है ?

सब कुछ बताऊँगा सर। आप मेरे पास आये। थैंक यू सर।

'घर की याद आ रही है क्या ? मैंने पूछा।' ओह नो ऐसा कुछ नहीं है।

तो फिर ?

'ये देखिए डैड का लेटर। आज आया है और उसने कहा और मुड़ा-तुड़ा पत्र मुझे थमा दिया।

ऐसा क्या है इसमें। मैंने प्यार से अपना हाथ उसके कंधे पर रखा। स्पर्श की ऊर्जा से उसके अन्दर का लावा जैसे बह गया, वह फूट-फूट कर रो पड़ा। मैंने उसके गाल सहलाये और हम दोनों पास के बिजली के खम्बे के नीचे आ गये। पत्र मेरे हाथ में था। सोचा रौशनी में पढ़ूँगा, पर पढ़ने की ज़रूरत नहीं पड़ी। वह पहले ही बरस पड़ा।

‘इसमें डैड ने लिखा है कि मैं आगे से मम्मी से न मिलूँ। अगर मिलूँगा तो वे मेरी स्कूल की फीस नहीं देंगे। आप जानते ही होंगे कि मम्मी दिल्ली में रहती है और हर हफ्ते मुझसे मिलने आती हैं और ढेर सारा खाने-पीने का सामान भी लाती हैं मेरे लिए।’

डैडी तो इंग्लैण्ड में रहते हैं। वे तो नवम्बर लास्ट में आयेंगे, जब स्कूल बन्द होंगे, मुझे साथ इंग्लैण्ड ले जायेंगे। मम्मी मुझसे मिलने आती हैं। उनसे न मिलूँ! क्यों न मिलूँ अपनी माँ से। कोई बात है ये। क्या करूँ सर? वह रोते-रोते चीखा।’

मैं कहना चाहता था कि सब ठीक हो जायेगा, पर यह कहना बेमाने था। राजीव कतई विश्वास नहीं करता। वह होशियार, होनहार छात्र था। उसे बहलाया नहीं जा सकता था।

राजीव सातवीं कक्षा में था। वह तेज दिमाग वाला, प्रखर छात्र था। मैं हिन्दी व संस्कृत पढ़ाता था। मैंने सोचा था कि हिन्दी सीखने में जरूर रुचि लेगा। पर मेरा सोचना बिल्कुल गलत था।

एक दिन कक्षा के बाहर अपने पास बुलाकर मैंने उसे समझाया राजीव इंडिया आये हो हिन्दी सीखो। भारतीय को अपनी भाषा तो आनी ही चाहिए।

वह एकदम बोला- ओह नो सर। क्यूँ समय बर्बाद करूँ हिन्दी सीखने में- यह मेरे कैरियर में कभी काम नहीं आयेगी। मेरे विषय हैं- साइंस, मैथ्स और इंग्लिश और सही में त्रैमासिक परीक्षा में इन विषयों में 98 प्रतिशत अंक पाकर उसने सारे विद्यालय में धाक जमा ली थी। हिन्दी को उसने एक तरफ सरका दिया था। वह उम्र के लिहाज से बहुत व्यवहारिक था। यही वजह थी कि वे अपने मन-पसन्द अध्यापकों को यदा-कदा, इंग्लैण्ड से लाई हुई छोटी-मोटी चीजें जैसे कैलक्युलेटर, राइटिंग पैड या पेन आदि भेंट स्वरूप देता रहता था। मुझे भी उसने बिजली से चलने वाला शेविंग रेजर दिया था। आखिर मैं उसका क्लास टीचर जो था। उसकी पूरे साल की पॉकेट मनी मेरे पास थी। रिपोर्ट कार्ड पर टिप्पणी, बहुत महत्त्व रखती थी। ये सब बातें थीं, जिसकी वजह से उसकी नजर में मेरा महत्त्व था। हिन्दी अध्यापक होने के नाते तो कतई नहीं।

मुझे आश्चर्य होता था कि इस छोटी सी उम्र में उसकी समझ इतनी धारदार और स्पष्ट कैसे है। वह अवश्य ही जीवन में ऊँचाईयाँ छूएगा। मुझे इसका विश्वास था। इस समय वह जिस भावनात्मक उद्वेग से गुजर रहा है उसका सामना कैसे करेगा। वह जहीन और तमीजदार बालक था। ऐसा ही स्कूल में सब समझते थे। आज उसकी जिन्दगी का नया पृष्ठ मेरे सामने खुला था।

रूमाल से गालों को पोंछते हुए वह अधिकार के स्वर में बोला।

सर मैं क्या करूँ, मुझे बतायें न। रास्ता बताइये, किधर जाऊँ। आपको बताना ही होगा। आखिर आप मेरे क्लास टीचर हैं।

ठीक है। पहले खोलकर पूरी बात तो बताओ तभी कुछ सलाह दे पाऊँगा।

‘तुम्हारे डैड क्यों नहीं चाहते कि तुम अपनी माँ से मिलो।’

‘सर वो दो साल से अलग हैं। सैपरेशन है। माँ दिल्ली में है और डैड इंग्लैण्ड में। दोनों एक दूसरे की शकल देखना पसन्द नहीं करते।’ राजीव ने तपाक से बात स्पष्ट की।

परिवार में गड़बड़ है। आम बात है यह बोर्डिंग स्कूल में। इसी टेंशन की वजह से राजीव के पिता ने दूर हिल्स के बोर्डिंग स्कूल में पढ़ने भेजा है उसे। मैं सोच रहा था।

टन-टन-टन। डिनर की घंटी बजी। बच्चे भोजन के लिए पंक्तिबद्ध खड़े होने के लिए दौड़ पड़े।

राजीव तुम जाओ। भोजन के बाद बात करेंगे।

‘फॉर व्हाट वी आर गोइंग की रिसीव, में द लॉर्ड मेक अस टूली थैंकफूल।’ स्कूल कैप्टिन ने भोजन से पहले प्रार्थना की और कमान्ड दिया- ‘सिट!’ सब छात्र बैठ गये और रात्रि भोजन व गपशप में मशगूल हो गये।

मैं ड्यूटी मास्टर था। डायनिंग हाल में चक्कर लगाता हुआ राजीव की मेज पर पहुँचा।

उसने गर्दन उठाकर मेरी ओर देखा। वह छूरी-काँटे से प्लेट में रखे कटलेट के छोटे टुकड़े कर रहा था। उसके चेहरे पर बनावटी मुस्कुराहट थी। मैं आगे बढ़ गया।

मैं सोच रहा था बच्चा अपनी माँ से न मिले। कोई बात

हुई यह। यह तो राजीव के प्रति घोर अन्याय है। बेटा माँ की तरफ झुकता ही है— वहाँ उसे सुख सुकून मिलता है— यह तो मनोवैज्ञानिक सच है। अगले दिन शनिवार था। शनिवार यानि बच्चों का अपने माता-पिता से मिलने का दिन। पार्किंग में कारें ही कारें थी छोटी मारुति से लेकर बी.एम.डब्लू. तक कई तरह-तरह की गाड़ियों से सारा मैदान भर गया था।

मुझे उत्सुकता थी कि राजीव की मम्मी कब आयेंगी, वह ठीक समय पर आई। कार से उतरकर बरामदे की तरफ बढ़ीं। उसके साथ युवा आकर्षक ड्राइवर भी था। उसके हाथ में दो बैग थे। इसमें राजीव को देने के लिए खाने-पीने का सामान था। कुछ दूर तक साथ चलकर उसने दोनों बैग मालकिन के हवाले कर दिये। वह सीधे स्कूल के गार्डन में पहुँचा जहाँ पर राजीव उसका इंतजार कर रहा था। दोनों बैच पर बैठ गये।

माँ ने राजीव को वात्सल्य भरी आँखों से देखा। टक से भरे दो बैग उसकी गोद में रखे। प्यार से कंधे पर हल्का सा दबाव देकर अपने से सटा लिया।

मैं तेरे साथ हूँ बेटा। हर हालत में तेरे साथ रहूँगी। मुझे पता है तेरे डैडी नहीं चाहते कि मैं तुझसे मिलूँ। मुझे वे कभी इंग्लैण्ड नहीं ले जायेंगे। अब तो मैं जाना भी नहीं चाहती। इंडिया में ही रहूँगी। छुट्टियों में तू इंग्लैण्ड नहीं मेरे पास रहेगा दिल्ली में। राजीव खुश था और एक हफ्ते तक खुश रहा। मैं उसका विश्वासपात्र, कक्षा अध्यापक अब उसका मित्र हो गया था। वह हर बात मुझसे शेयर करने लगा था।

उसने मुझे बताया कि उसके डैडी को पता चल गया है कि उनकी कड़ी हिदायत के बावजूद भी वह मम्मी से मिलता रहा है। स्कूल ऑफिस में उनका फोन आया था। वहाँ पर बात हुई। वे बार-बार यहीं कह रहे थे कि मम्मी से न मिलूँ। मिलूँगा तो बहुत बुरा होगा। मम्मी अच्छी है। दिल्ली से मुझसे मिलने आती है। मुझे खूब प्यार करती है। वह मेरे बिना नहीं रह सकती और मैं उसके बिना नहीं रह सकता। मुझे लगा राजीव दिल उड़ेल रहा है।

अब आगे क्या हुआ वह राजीव ने मुझे नहीं बताया। मेरी जिज्ञासा और खोजी निगाहों ने मुझे दिखाया।

एक दिन क्या हुआ कि डैड हिथ्रो से प्लेन में सवार हो दिल्ली पहुँचे और वहाँ से टैक्सी पकड़ सीधे मसूरी स्कूल में आ धमके। अन्तिम शनिवार था यानि माता-पिता का बच्चों से मिलने का दिन। मैंने देखा राजीव पार्किंग स्थल पर बनी सीढ़ियों पर खड़ा मम्मी का इंतजार कर रहा था। गाड़ियों का तांता लगा था और वे धीरे-धीरे मैदान की ओर बढ़ रही थीं। गेट पर मुस्तैदी से खड़ा गार्ड हाथ के इशारे से गाड़ियों को पार्किंग की दिशा दिखा रहा था।

राजीव के डैडी स्कूल पहुँच गये थे, उन्होंने गाड़ी पार्क की और सीढ़ियाँ चढ़कर प्रार्थना भवन की ओर चलें, जहाँ पर बच्चे अपने अभिभावकों का इंतजार कर रहे थे।

उनके हाथ में ब्रीफकेस था और उनकी निगाहें राजीव को ढूँढ़ रही थीं। राजीव मम्मी के इंतजार में था। यकायक डैडी को सामने देखकर सकपका गया।

हाय राजीव।

‘हाय डैड’

दोनों ने एक दूसरे के हाथों की उष्मा महसूस की। हाथ पकड़ कर साथ-साथ चलते रहे। फिर पैरेन्ट्स के लिए लगाये गये भारी भरकम सोफे पर बैठ गये।

‘कैसा चल रहा है?’

‘ओ.के. ठीक है सब’

फिर काफी देर तक दोनों के बीच मौन पसरा रहा।

‘मम्मी तो नहीं आती अब’ डैड ने तीखी आवाज में पूछा।

राजीव की निगाह सामने से आती मम्मी पर थी। उनके हाथ में बैग थे और उनकी निगाहें उसे ढूँढ़ रही थी।

राजीव घबरा गया उसे पसीना छूट गया, गला सूख गया और वह दबी आवाज में बोला— ‘आती है कभी-कभी।’

‘तो ये चल रहा है यहाँ सब कुछ। राजीव बेटा ये ठीक नहीं है। तुम्हारी मम्मी अच्छी औरत नहीं है। उससे मत मिलो। डैडी ने गुस्से से नहीं स्नेह से कहा। राजीव के भीतर असमंजस था। उसे तो लगता है मम्मी अच्छी ही नहीं बहुत अच्छी है। कितना प्यार करती है उसे। कितना ख्याल रखती है उसका।

उसने हिम्मत करके कहा— ‘नहीं डैड मम्मी बुरी नहीं

है।'

डैड ने बेटे की ओर तिरछी निगाह डाली पर चुप रहें फिर उसके बालों पर ऊँगलियाँ फिराने लगे।

डैडी के अच्छे व्यवहार के बावजूद राजीव के मन में डर था। मम्मी आ रही है। अब क्या होगा। वह असहज था और बार-बार बैठने की मुद्रा बदल रहा था। कभी इधर सरकता तो कभी उधर। डैडी मम्मी साथ रहते तो कितना अच्छा था। पहले तो साथ ही थे, उसे शॉपिंग मॉल ले जाते। शनिवार इतवार को डैडी फुटबॉल प्रैक्टिस के लिए स्टेडियम ले जाते। जब तक अभ्यास खत्म न होता, वहीं बैठे रहते। फिर खेल के बाद घर लौटते। मम्मी को साथ लेते और स्वीमिंग पूल में तीनों देर तक स्वीमिंग करते। वहीं पर डिनर होता। राजीव का प्रिय व्यंजन चिकन रोलस भी आता। साप्ताहिक कितना मजेदार बीतता। दो साल हो गये मम्मी को अलग हुए। ऐसा नहीं कि मम्मी जब साथ थी लन्दन में, तो सब ठीक था। चीखना-चिल्लना और चीजों को फेंकना रोज ही होता था। ऐसे मौकों पर मम्मी ही चुप हो जाती और परिवार का जीवन चक्र फिर चल पड़ता, पर यह कैसा कचरा था; जो बाहर ही नहीं निकलता था। डैडी में अहं बेइंतहा था और मम्मी में हमेशा अपनी बात मनवाने की जिद। दोनों शाम को साथ में बैठकर वाइन या बीयर लेते, पर यदि मम्मी का मन ड्रिंक्स लेने का न होता तो इसी बात पर पापा का मूड उखड़ जाता। राजीव ने आगे बताया कि शायद पापा को शक है कि मामा का दिल्ली में कोई ब्वाय फ्रेंड रहा है- शायद वह ड्राइवर है, पर राजीव इसे बकवास समझता है। डैडी को फिजूल का शक है मम्मी पर। दोनों के टूटने का दौर और घर में पसरती त्रासदी का दर्द राजीव ने देखा और झेला है। वह साक्षी है बढ़ती दरार का। मूक बेबस तड़फता हुआ साक्षी।

एक किनारे खड़ा मैं देख रहा था। राजीव, पिता के पास सोफे पर बैठा है। डैडी का हाथ उसके कंधे पर है। सामने उसकी मम्मी हाथ में टक से भरे दो बैग लिए उनकी तरफ बढ़ रही है। कोल्ड ड्रिंक्स, चिप्स, बिस्कुट, केक और चाकलेट। राजीव की निगाह बैग और मम्मी दोनों पर टिकी थी।

दो साल बाद पति-पत्नी एक दूसरे के आमने-सामने

थे। शायद एक दूसरे की आँखों में चाहत सकून भरी लौ देखना चाह रहे हों। दोनों ने एक दूसरे के चेहरों को पढ़ा। समय की दूरी उन्हें नजदीक नहीं ला पाई थी। लौ बुझ चुकी थी, डैडी बोले- बैठो, अब आ ही गई हो तो बैग नीचे रख कर मम्मी राजीव की बगल में बैठ गई। बीच में राजीव, अगल-बगल मम्मी पापा। राजीव को ख्याल आया कि वह सैंडविच हो गया है। अगल-बगल सिका हुआ टोस्ट बीच में आलू-मटर। वाह! क्या बात है। वह मुस्कराया। मौन था जो तीनों के बीच पसरा था। चारों ओर चहल-पहल थी। बच्चों में माता-पिता से मिलने का उल्लास और रोमांच था। राजीव दोनों घुटने सटाकर बैठा दबी छुपी निगाहों से मम्मी को देख लेता था। चुप्पी बेचैनी पैदा कर रही थी और टूटने का नाम नहीं ले रही थी। तीनों उसमें कैद थे। अपने-अपने घरों में चक्कर लगाते हुए। चुप्पी के मारक मंत्र से त्रस्त।

राजीव ने बताया था कि उसकी मम्मी स्कूल का खर्चा उठाने में सक्षम हैं। वह दिल्ली के एक प्रतिष्ठित स्कूल में अध्यापिका हैं। दिल्ली में माता-पिता के साथ रह रही थीं। उन्होंने दो कमरों का एक फ्लैट उन्हें दे दिया है। मम्मी बहुत स्वाभिमानिनी है और माता-पिता पर बोझ बनकर नहीं रहना चाहती। दरअसल वह किसी पर बोझ बनकर नहीं रहना चाहती। अपना रास्ता स्वयं बना लिया है उन्होंने। आठ साल विदेश में रहने के बाद भारत में रहना बसना आसान नहीं था मम्मी के लिए। पर मजबूरी थी। कटुता और अविश्वास की खाई इतनी चौड़ी हो गई थी कि अब उसे पाटा नहीं जा सकता था।

मैंने देखा राजीव उसकी मम्मी व पापा तीनों असहज मौन की गिरफ्त में थे। पास-पास एक दूसरे से सटे हुए पर मौन।

आखिर में डैडी ने मौन तोड़ा।

पता चला कि तुम राजीव से मिलने आती रहती हो। यह बहुत गलत बात है। जब करार हो गया था कि राजीव मेरे पास रहेगा उसका भविष्य बनाना मेरी जिम्मेवारी है। मैंने तुम्हें स्वतंत्र कर दिया था। फिर यह क्यों?

'राजीव मेरा भी बेटा है, मैं उसकी माँ हूँ। हम दोनों को एक-दूसरे से मिलकर अच्छा लगता है। मेरी भी

जिम्मेदारी है कि मैं बेटे का ख्याल रखूँ।’

‘अब बहुत हो गया। तुम बार-बार करार तोड़ती हो। राजीव का तुम्हारे साथ कोई भविष्य नहीं है।’ इस बात को अच्छी तरह समझ लो।

‘क्यों नहीं है? माँ का प्यार तुम उसे नहीं दे सकते। वह मैं ही दे सकती हूँ।’

‘ये सब छोड़ो। तुम अपनी दुनियाँ देखो। राजीव को मैं देख लूँगा।’

‘ये सरासर अन्याय है। तुम्हें तो खुश होना चाहिए कि राजीव का इंडिया में भी कोई गार्जियन है। उसे माँ का सानिध्य और प्यार मिल रहा है।’

‘मैं कतई नहीं चाहता कि तुम्हारी काली छाया उस पर पड़े। तुम जानती हो, तुम क्या हो। तुम्हें इधर-उधर गन्दा खाने की आदत है।’

‘तुमने फिर बकवास शुरू कर दी। तुम्हारे दिमाग में वहम का कीड़ा बरसों से तिलक लगाये जमा हुआ बैठा है और मौका पाते ही नंगा होकर नाचने लगता है। अब और कुछ नहीं। अब राजीव के बारे में सोचो।’

‘हाँ, बिल्कुल ठीक। बच्चे का भविष्य बने इसलिए तो उसका भारत के सर्वोत्तम श्रेणी के आवासीय स्कूल में दाखिला कराया है। तुम डायन यहाँ भी हम दोनों का पीछा नहीं छोड़ रही हो।’

राजीव इन काँटों भरी बातों को सुनने का अभ्यस्त था। डैडी को ये अच्छा नहीं लग रहा था कि राजीव के सामने ये बोझिल वातावरण बना जा रहा है।

उन्होंने पर्स निकाला और राजीव के हाथ में सौ का नोट थमाया, ‘ये लो टक शॉप से कोल्ड ड्रिंक्स ले आओ।’

राजीव उठा, उसे लगा जैसे उबलती आग से एयरकंडीशन में आ गया हो।

वह टक शॉप की तरफ बढ़ रहा था। सोच रहा था उसका भविष्य अधर में नहीं होना चाहिए। उसे माता-पिता के इस मकड़ जाल से खुद को निकालना है। वह अच्छी तरह जानता था कि उसे तेजस्वी बुद्धि का वरदान प्राप्त है और सुनहरा भविष्य उसकी इंतजार में है। वास्तव में अपनी प्रतिभा और खूबी को जानना सफलता की प्रथम सीढ़ी है।

मैं खेल मैदान की सीढ़ियों के ऊपर टक शॉप के पास खड़ा था और नीचे सोफे पर बैठे राजीव के पापा मम्मी को देख रहा था। राजीव ने मुझे देखा तो पास आकर बोला- ‘सर न जाने क्या प्राब्लम है। ये लोग मिल कर क्यों नहीं रह सकते?’

राजीव के माता-पिता का उलझाव बढ़ता जा रहा था। उनका एक दूसरे पर भरोसा उठ गया था। वहम और अविश्वास की जकड़न से ये लोग कभी मुक्त नहीं होंगे। सर! ये लोग अलग ही रहे तो अच्छा। रोज-रोज के क्लेश से इनके साथ मैं भी कहीं का नहीं रहूँगा। पर मेरा क्या होगा। सर, बताइये मैं क्या करूँ?’

समस्या इतनी जटिल थी कि राजीव को कुछ भी सलाह देना मुझे उचित नहीं लगा। मैंने कहा तुम परिस्थिति को ज्यादा अच्छी तरह जानते हो जो तुम्हें अच्छा लगे वही करो।’

‘थैंक्यू सर!’

राजीव लौटा। डैडी मम्मी दोनों के चेहरे सूजे हुए थे। संवादहीन स्थिति दमघोटू थी। राजीव को देख मम्मी ने आँसू पोंछे।

राजीव कोल्ड ड्रिंक्स की बोटलें लिए खड़ा था। सबके चित्त अशान्त थे। अनिर्णय के क्षण त्रासद मारक होते हैं।

पापा ने मौन तोड़ा- ‘हमारा मकसद राजीव को बचाना है। हमारे झगड़ों में उसके भविष्य का फलूदा नहीं बनना चाहिए।’

‘वही तो मैं भी चाहती हूँ। माँ के पास रहना, उसके भावनात्मक विकास के लिए बेहतर रहेगा। यह यहीं रहेगा मेरे पास इंडिया में। मैं बोर्डिंग स्कूल का खर्चा तो नहीं उठा सकती, इसे तुम भली भाँति जानते हो, पर मैं अपने बेटे को समय दे सकती हूँ। उसकी अच्छी तरह देखभाल कर सकती हूँ।’

तुम कौन से जमाने की बात कर रही हो। आज भावनात्मक स्पोर्ट की नहीं, फाइनैशियल स्पोर्ट की जरूरत है। राजीव इंग्लैण्ड में पैदा हुआ है, वहीं पर पला-बढ़ा है। उसका भविष्य वहाँ ही है यहाँ नहीं।

‘राजीव आओ यहाँ पर बैठो।’ मम्मी ने प्यार से राजीव को बगल में बिठा लिया।

राजीव चुप था। और बेमन मुस्कुरा रहा था।
राजीव तुम यहीं रहोगे इंडिया में मेरे पास। तुम्हें यहाँ से हटाकर दिल्ली में अच्छे पब्लिक स्कूल में दाखिला दिलवा दूँगी।

पापा मम्मी की ओर मुखातिब होकर बोले- 'देखो विभा। अब बात तो बढ़ाओ नहीं। हम लोग ये मान चुके हैं कि हमारा साथ रहना बिल्कुल संभव नहीं है। दो साल का सेपरेशन भी हमारे अन्दर साथ रहने की ललक पैदा नहीं कर सका।' हम तीनों में सबसे बड़ा 'सफरर' राजीव है। हमने अभी तक उसकी राय नहीं जानी, उससे पूछो वह क्या चाहता है, तुम्हारे साथ इंडिया में रहना या वापिस इंग्लैण्ड जाना फैसला उस पर छोड़ो।'

मम्मी को अपने प्यार और लाड़ले बेटे राजीव पर पूरा भरोसा था।

'ठीक है, इसी से पूछ लो। यह क्या चाहता है।' मम्मी ने उसके कंधे पर हाथ रखा- बताओ बेटा क्या चाहते हो? कहाँ पर रहना चाहते हो इंडिया में या इंग्लैण्ड में?

'मैं आप दोनों के साथ रहना चाहता हूँ।'

'पर अब यह तो संभव नहीं है तुम्हें एक चुनना होगा।'

'व्हाट रबिश! यह कैसे हो सकता है, मुझे आप दोनों चाहिए।'

'हम दोनों का प्यार व आशीर्वाद तुम्हारे साथ है फिर भी तुम्हें एक को चुनना ही पड़ेगा माई सन' मम्मी भावुक हो उठी थीं।

वह दिमाग चला रहा था, पर उसकी समझ में नहीं आ रहा था। परिस्थिति विषम थी।

कैरियर और जीवन शैली की दृष्टि से उसे इंग्लैण्ड पसंद था। वहाँ की आधुनिकता स्वच्छता का वह मन से प्रशंसक था।

यहाँ पर मम्मी है, उनका सामीप्य और प्यार है, पर यहाँ की धूल, धूप, गंदगी और अव्यवस्था उसे कतई पसंद नहीं है। मम्मी के साथ दिल्ली में दो कमरों के मकान में रहना पड़ेगा, पर वह मम्मी को कैसे छोड़ सकता है। इंग्लैण्ड में रहकर वह मम्मी से रोज इन्टरनेट पर चैट कर सकता है। फोन पर भी बात हो सकती है, पर मम्मी के सामीप्य, प्रेम स्पर्श के बिना तो वह मुरझा जायेगा।

अगल-बगल बैठे मम्मी पापा दोनों का हाथ उसने अपने दोनों हाथों में ले लिया और चुपचाप बैठा रहा। फिर मम्मी की ओर देखकर बोला-

'मम्मी यू आर वैरी स्वीट। आई लव यू। बट, आई एम सॉरी! आयम ए ब्रिटिश सिटीजन, आई हैव टू गो बैक होम। आई हैव टू सी माई फ्यूचर ऑलसो।

संपर्क :

श्रद्धायन, रायपुर रोड, अधोईवाला देहरादून

मो. 09557163702

नेपाली कविता

मूल : वीरू बांग्देल, मो. 9002999616

प्रकाशित पुस्तकें : कविता संग्रह : आहट मानेभञ्ज्याङको (1995),
कसाईको बस्तीमा (2005), व्यंग्य संग्रह: सोझो-बांगो हस्ताक्षर (1996)
हाम्रा गौरव शिखर : सिक्किम सम्मान सम्मिलन को आलेख
संयुक्त लेखन- संपादन (2004)

जिन्दगी की तलाश में

धूप की किरणों में
एड़ टिकाकर जीने का
भरोसा तलाशता रहा हूँ मैं
उम्र भर
चाँद छूने की कामना के नहीं हैं पंख
ऐसा है नहीं
जो हो सकता है
हुआ नहीं है बंद
रोटी के लक्ष्य में
वृत्ताकार
सपनों के बखार में
हमने कहा था
विचार की आजाद उड़ान को
नहीं रखा जा सकता है बंद तिजोरी में
कहा था हमने
नहीं रखा जा सकता है
सपनों की अजस्र धाराओं को
हिंसक कालरात्री की जकड़ में
युवा उम्र की उन्मादें
पल्ले की तरह उलझी रहीं
निष्क्रियता के कंटीले तारों में
वर्षों से
पराधीनता के घरों में
क्या स्वाधीन बचने की चाहत है जिन्दगी
बेड़ियों से जकड़े हृदय में
क्या स्वाभिमानी सर उठाने की बेचैनी है- जिन्दगी

पराधीन है सपनों के खिले फूलों से भरा- आँगन
पराधीन है जमीन और हवा
पराधीन है मौसम भी
जिन्दगी के सपने एकांत में खिल कर
झर जाते हैं एकांत में ही
पता नहीं कब से चल रहा है यह सिलसिला
पराजय
हताशा
अनिर्णीत क्षणों की मुश्किलों को
कहीं फेंक कर
अपमान-तिरस्कार और लांछनाओं को
दुर्बल आशाओं तथा इच्छाओं के दयनीय आग्रहों को
यानी सबको फेंक कर
त्यागते हुए
चलते रहना
जिन्दगी की तलाश में
यही तो है जिन्दगी !

अपनी धुन

अपना गीत
हम नहीं गा सके
भूल चुके हैं
कभी-कभार सिर्फ धुन
आ जाती है होठ पर
अनायास ही
अधूरी सी।

मूल : पदम क्षेत्री, मो. 09593982448

कार्यकारी संपादक – नित्य समय, गान्तोक सिक्किम

प्रकाशित पुस्तकें : आदिम सड़क (कविता संकलन, 1995)

तुराका नेपालीहरू (शोधमूलक निबंध, 1993)

उज्यालोको दमित आकांक्षा (कविता संकलन, 2008)

मैं घर लौट रहा हूँ

घर व्याकुल होगा

सुन्न

मेरे थके पदचाप

दरवाजा टकटकी लगाए

ताक रहा होगा सड़क की ओर

तड़प रही होंगी

आशंकाएँ

स्नेह के हृदय में

भीतर ही भीतर बेचैनी से

धड़क रही होगी

रात

लुढ़के घड़े में कुंडली बना कर

बैठा होगा सर्पिल आघात

उँघने लगे हैं

न्योनलाइट

कुहासे की पतली चादर ओढ़

थरथर कांपता होगा

चुल्हा

ठंढ़ से अकड़

जम्हाई ले रही है

नदी

मैं घर लौट रहा हूँ

सुनसान रास्ते से।

घर

मैंने कभी भी ऐसे घर के बारे में सोचा नहीं था किसने

रोप दिये हैं कंटीले पौधे और झाड़-झंझाड़ ? क्या खुद

ही उग आई हैं ये कंटीली झाड़ियाँ बगीचे में ?

लालूपाते इस बार

कैसा आभाहीन बदरंग खिला है

सयपत्री तो और खिला ही नहीं

इस दीपावली में

बेशुमार सरीसृप दीवारों पर रेंग रहे हैं

बाहर चील चीख रही है अपनी धुन में

खिड़की बंद करने पर दम घुटता है

खोलने पर हवा से काउछो की कसैली दुर्गन्ध

आती है असहनीय

पड़ोस का परिहास करने वाला परिवार

बहुत पहले यहाँ से कहीं जा बसा है

ऐसा हो सकता है विभत्स

लगाव का प्रतिरूप

मैंने तो कभी सोचा ही नहीं था

मैंने कभी भी ऐसे घर के बारे में सोचा नहीं था।

काउछो : एक पहाड़ी लता का फल

लालूपाते : एक पहाड़ी लाल फूल

सयपत्री : गेंदा

अनुवादक : के. पी. सिंह 'कर्णदीप'

मो. 09476383450

गिखोर

मूल भाषा- जॉर्जिया में बोली जाने वाली पुरानी अर्मेनियन

अनुवादक: ओक्साना टोरोसियन एवं रविकांत

लेखक- होवहानेस थुमानियान

आर्मेनियायी साहित्यकार होवहानेस थुमानियान का जन्म 19 फरवरी 1869 को रुस के राजतांत्रिक व्यवस्था के अंतर्गत हुआ था। उनकी मृत्यु 23 मार्च, 1923 को सोवियत रुस के मास्को में हुई। वे साहित्य में यथार्थवादी आंदोलन के पुरोधा थे। उन्होंने तत्कालीन आर्मेनियन समाज के यथार्थ को अपनी कहानियों एवं कविताओं में उजागर किया है। प्रस्तुत कहानी 'गिखोर' पर सन् 1934 में एक मूक फिल्म बनी थी।

1

किसान हामबो के घर में झगड़ा चलता था।

हामबो चाहता था कि वह अपने बारह साल के गिखोर को शहर ले जाए। किसी काम में लगा दे ताकि वह इंसान बन जाए और वह काम करे।

पत्नी राजी नहीं थी।

नहीं। मेरे बेचारे बच्चे को इस बेरहम दुनिया में मत डालना! रोती थी पत्नी। पर हामबो ने नहीं सुना।

एक शांत सुबह थी। एक दुखी सुबह। घर वाले और पड़ोसी गाँव के अंत/छोर तक आए (किनारे)। सभी ने गिखोर को चूमा, प्यार किया। ज्ञानी बहन रो रही थी और माँ की छाती से चिपटा छोटा गालो आवाज़ दे रहा था.....ऽऽ गिखोल.....ऽऽ कहाँ जा लहे हो.....हे गिखोल ऽऽ.....।

गिखोर बार-बार पीछे देख रहा था। देख रहा था कि वे लोग अभी गाँव के किनारे खड़े हैं आँचल-अंगोछे से आँखें पोंछ रहे हैं। वह अपने पिता के साथ चल रहा था। कभी आगे बढ़ जाता था। मुड़-मुड़कर वापस देखता था। फिर उसने मुड़कर देखा। गाँव पहाड़ी के पीछे छिप गया था। इसके बाद वह पीछे-पीछे रहने लगा/चलने लगा। - आ जा हे गिखोर जान, जा ऽऽ न! आओ, बस्स पहुँच रहे हैं।

बेटे को बुलाता जा रहा था हामबो। हामबो कंधे पर एक पोटली लटकाए था। उसके अंदर कुछ रोटियाँ और तरकारी थी तथा दो पुड़िया तम्बाकू।

- हे पापा! हमारा घर वह है न!

गिखोर अपना हाथ गाँव की ओर करके कह रहा था। हालांकि उनका घर नहीं दिख

रहा था। वे चले गए। शाम को जब वे पहाड़ों के किनारे से गुजर रहे थे, एक बार फिर गाँव बहुत दूर धुंध में दिखाई दे रहा था। पहली रात (उस रात) वे एक गाँव में मेहमान रहे। घर का मालिक हामबो का पुराना परिचित था।

तख्त के किनारे रखी पीली केतली से भाप निकल रही थी। एक किशोर लड़की प्याले रगड़-रगड़कर धो रही थी। और चाय बना रही थी। उसने लाल रंग की पोशाक पहनी हुई थी। गिखोर ने सोचा जब वह शहर में पैसा कमाएगा तो अपनी जानी बहन के लिए उसके जैसा कपड़ा भेजेगा। रात को खाना खाने के बाद हामबो और घर का मालिक दीवार से कंधा टिकाए बैठे, तंबाकू पीते हुए बातें कर रहे थे। गिखोर के बारे में बात कर रहे थे। घर के मालिक ने हामबो की तारीफ करते हुए कहा कि तुम अपने बेटे को अच्छा आदमी बनाने के लिए बहुत कोशिश करते हो। फिर वे लड़ाई के बारे में और महंगाई पर बातें करने लगे। गिखोर बहुत थका हुआ था। वह सो गया।

दूसरे दिन दोनों शहर पहुँचे और बाजार गये।

– ‘चाचा, इस बच्चे को नौकरी पर दे रहे हो क्या?’

– दुकान के अन्दर से एक व्यापारी ने पूछा।

‘जैसा आपका आदेश हो’ – हामबो ने कहा और गिखोर को उसकी ओर ठेल दिया।

‘मुझे दे दो, मैं ले लूँगा’ – व्यापारी ने प्रस्ताव किया। लोग उसे व्यापारी आर्तेम के नाम से जानते थे।

2

हामबो ने गिखोर को व्यापारी आर्तेम के घर में नौकर रख दिया। शर्त यह थी कि गिखोर को एक साल तक घर के छोटे-छोटे काम करने हैं – घर की सफाई करना, बर्तन धोना, जूते पोंछना और दुकान पर खाना पहुँचाना।

एक साल के बाद व्यापारी को उसे दुकान पर ले जाना था। उसे दुकान चलाना सिखाना था और इस तरह से गिखोर को आगे बढ़ाना था।

– ‘पाँच साल तक पैसा नहीं दूँगा;’ व्यापारी ने शर्त बताकर कहा।

– ‘अगर सही जानना चाहो तो तुमको देना है क्योंकि तुम्हारा बेटा कुछ सीखेगा। आखिर वह कुछ भी नहीं जानता.....।’

– ‘कहाँ से जानेगा वह मालिक, हुजूर’ – जवाब दिया हामबो ने।

– ‘अगर कुछ जानता होता तो मैं क्यों लेकर आता। मैं इसीलिए लाया हूँ कि यह कुछ सीख जाए.....।’

– ‘सीख जाएगा। सब कुछ सीख जाएगा। इसी तरह से सीखेगा कि....आप लोगों की ही तरफ से वह निकोल है। उसने अपनी दुकान खोली है वह भी मेरे यहाँ से सीखकर आदमी बन गया लेकिन अंत में वह मेरे घर से दो चाय के चम्मच और कुछ चीजें चुरा ले गया....।’

‘नहीं मालिक हुजूर, यह चोरी नहीं करता यदि ऐसा कुछ किया तो आकर इसकी गर्दन पकड़ूँगा और नदी में फेंक दूँगा....।’

‘हाँ अगर हाथ से मैला नहीं है तो आदमी बन जाएगा।’ ‘मेरी भी चिन्ता यही है साहब कि यह आदमी बन जाए। बोलना सीखे। लिखना-पढ़ना सीखे। उठना बैठना सीखे। लोगों को पहचान पाए ताकि इस दुनिया में मेरे जैसा गरीब लाचार न रहे.....। खुद ही यह बच्चा तेज है। हमारे गाँव के स्कूल में पढ़ा है, अच्छा-बुरा समझता है। लेकिन मेरी गुजारिश है कि उसकी ठीक से देखभाल करिएगा। अभी बच्चा है बेचारा.....।’

व्यापारी हामबो को छोड़कर बाहर गया और ऊँची आवाज में उसने आदेश दिया..... ‘SS चाय लाओ, ब्रेड लाओ इनके लिएSS।’

3

पिता और बेटा व्यापारी आर्तेम के रसोईघर में बैठे हैं।

– ‘तू जानता है कि गिखोर बेटा! अभी मैं देखूँगा, कैसा लड़का बनेगा तू.....ऐसा करना चाहिए कि....मैं क्या जानता हूँ.....? हे भगवान्.....’ गहरी सांस ली हामबो ने और चीलम में तम्बाकू भरी।

इस बीच गिखोर चारों तरफ देख रहा था।

– ‘पापा, उनके पास अँगोठी नहीं है?’

– ‘नहीं उनका ओवन है (इशारा करके हामबो बोला) यह है ओवन.....’

– ‘उनके पास चक्की नहीं है?’

– ‘ये शहर वाले हैं गाँव वाले नहीं।’

– ‘तो रोटी कहाँ से खाते हैं?’

‘पैसे से खरीदकर खाते हैं रोटी भी पैसे से लेते हैं घी भी, दूध भी, दही भी, लकड़ी भी, पानी भी.....।’

– ‘वाह.....’

– ‘वाह SS.... इसको तफलीस बोलते हैं। तुम ठीक से रहो, अभी तो बहुत कुछ सीख जाओगे।’

– ‘पापा, उनका गिरजाघर है.....?’

– ‘हाँ है, वे लोग भी हम लोग जैसे इसाई हैं। सुनो, हाँ SS.....चोरी मत करना। हो सकता है कि तुमको परखने के लिए ये पैसा डाल दें, उसके पास मत जाना। या उठाकर उनके पास जाकर पूछना- SS मालकिन यह किसका पैसा है? यहाँ पड़ा था। मालिक यह चीज मिल गई SS। नहीं तो.....(डॉटने के इशारे में)। इधर-उधर घूमना मत, कमाया हुआ पैसा बर्बाद मत करना, बहुत जरूरतमंद हैं, हम। अपना ख्याल रखना, रात को खुले में मत सोना ताकि ठण्ड न लगे। कभी-कभी यहाँ आने वालों के हाथ चिट्ठी भेजना.....।’

बीच-बीच में चिलम मुँह से हटाकर हामबो सिखाता जा रहा था, और बीच-बीच में गिखोर झपकी ले रहा था।

– ‘बासी रोटी के टुकड़े देंगे, बचा हुआ खराब खाना देंगे, बहुत बार खुद खाएँगे तुमको’ नहीं देंगे, कोई बात नहीं। नौकर का हाल यही है.....ये दिन भी कट जाएँगे.....। पिता अपनी सीख दे रहा था पर गिखोर उसके कंधे पर सर रखकर सो चुका था। इन दो दिनों में उसने इतनी सारी चीजें देखीं। इधर-उधर देखा। वह बिल्कुल थक गया था। – फलों की दुकानें, अच्छी तरह से तह करके रखे हुए रंग-बिरंगे कपड़े, तरह-तरह के खिलौने। स्कूल से आते-जाते बच्चों के झुण्ड, एक-दूसरे के पीछे चलते हुए इक्के, ऊँटों की कतारें, हरी घास से लदे हुए गधे.....तमाम आवाजें, झंकार और शोर से उसके दिमाग में साँय-साँय हो रही थी। वह थककर पिता के कंधे पर सिर रखकर सो रहा था। उस समय घर के अन्दर व्यापारी और उसकी पत्नी झगड़ा कर रहे थे। पत्नी डॉटते हुए चिल्ला रही थी। कि ये नौकर नया है पहाड़ से आया है जंगली! लेकिन पति खुश था कि कुछ साल तक उसे नौकर को पैसा नहीं देना है।

– ‘सीख जाएगा, ऐसा नहीं रहेगा’ – वह पत्नी से कह रहा था।

– ‘सीख जाएगा, बेटी! परेशान मत हो। दिल मत दुखाओ’ – व्यापारी की माँ समझा रही थी।

लेकिन श्रीमती नातो को यह स्वीकार नहीं था। वह रो-रोकर अपनी किस्मत को धिक्कार रही थी।

4

व्यापारी आर्तम के रसोईघर में गिखोर अकेला बैठा था। उसकी नौकरी शुरू हो चुकी थी। वह मालिक की पुरानी टोपी सिर से कानों तक खिंची हुई, पैरों में पुराने जूते और कुर्ता पहने हुए था। इस तरह सिर से पैर तक उसका हुलिया बदल गया था। रसोईघर में बैठा सोच रहा था कि वह अपने गाँव से क्यों आया यहाँ, अब क्या करना है.....?

उसी समय श्रीमती नातो अन्दर आयीं।

गिखोर अपनी जगह पर बैठा था।

श्रीमती नातो ने कुछ कहा। गिखोर ने ठीक से न सुना न समझा।

– ‘तुमसे कह रही हूँ, हे भालू के पिल्ले!’

गिखोर उलझन में पड़ गया। पसीना आ गया उसे। सोचा फिर से पूछे या क्या करे लेकिन उसकी हिम्मत नहीं हुई।

मालकिन गुस्से में बाहर चली गई।

– ‘दफ्न हो जाए जाकर.....तेरे जैसे जंगली यहाँ आते हैं और आदमी को थका देते हैं। मैं कुछ कह रही हूँ और वह अपनी जगह से हिल भी नहीं रहा। कुछ बोला भी नहीं.....।’

– खतम- गिखोर ने सोचा मालकिन चली गई। – लेकिन कितनी जल्दी खत्म हो गया.....कितना बुरा हुआअब मैं क्या करूँ..... पापा भी चला गया। जब सब कुछ खत्म हो गया था तब अपने आप से बातें करते हुए व्यापारी की दयालु बूढ़ी माँ सुन्दर काली लिवास में अन्दर आई।

– जब मालकिन अन्दर आती है तो अपनी जगह से क्यों नहीं उठता बेटा! – गिखोर को सिखा रही थी – जब वह कुछ पूछती है तो जवाब दिया करो.....ऐसा कैसे चलेगा.....?

बुढ़िया को सब ‘अम्मा’ बोलते थे।

अम्मा गिखोर को सिखाती थी, केतली रखनी है, जूते

पोंछना है, बर्तन धोना है.....। बूढ़ी अम्मा को छोड़कर बाकी सब उसको परेशान करते थे। व्यापारी और दुकान के दूसरे नौकर भी उसका मजाक उड़ाते थे। खी-खी SS नाम से उसे पुकारते थे। नाक खींचते थे। सिर पर मारते थे। टोपी को कानों तक खींचकर दबाते थे। वह यह सब सहने लगा था लेकिन गिखोर के लिए असहनीय था कि वह भूखा नहीं रह पाता था। अपने घर में उसे भूख लगती तो वह बर्तन से रोटी निकालता, पतेली से तरकारी निकालता और खाकर खेलने चला जाता। नहीं तो कुर्ते में रखकर खेत पर चला जाता और जब मन करता तो पेड़ के नीचे या नदी के किनारे बैठकर खाता पर यहाँ अलग तरीका था। चाहे जितनी भूख होती लेकिन इंतजार करना पड़ता जब तक खाने का समय न आए। वह भी सबके खाने के बाद। यह समय इतना लगता के बेचारा भूख से तड़प उठता।

थोड़ा बहुत इंतजार करने के बाद उसने रसोईघर में चारों तरफ देखा था कि यदि कुछ भी खाने को मिले तो मन को सुकून मिले, जब तक खाने का समय आए।

पहले जो मिला- सूखी रोटी के टुकड़े, फेंकी हुई हड्डी पर माँस या और कुछ उसने मुँह में डाला। फिर सोचा रसोईघर की अलमारियों में देखे। तभी उसने कड़ाही से आधा पका माँस का टुकड़ा बाहर खींचा और खाया।

यदि कोई देखे..... ?

कितना बुरा होगा.....

अभी क्या करना है..... ?

छोड़ना..... ? भागना..... ?

और गिखोर ने भागने के बारे में सोचा लेकिन कैसे भागे ?

किस तरफ भागे ?

अवेकला, रास्ता नहीं जानता, किसी को नहीं जानता.....और पापा.....

इतना बोला, समझाया- बुरा समय है बेटा कट जाएगा और अभी गिखोर के दिमाग में पिता की खुशक आवाज थी- SS समय है काटकर निकलेंगे.....निकलेंगे SS।

5

अचानक घंटी बजी। गिखोर चौंक गया। घर वालों ने

उसे बताया कि जब घंटी बजे तो जाकर देखे कि कौन है और क्या चाहता है। वह बाहर आया और बालकनी से देखा। एक सज्जन और कुछ महिलाएँ दरवाजे के सामने खड़े हैं।

अरे! कौन है ? उसने ऊपर से आवाज दी। सब ऊपर देखते हैं। महिलाएँ हँसती हैं। आदमी ने अपना चश्मा ठीक करके पूछा- 'मालकिन घर पर हैं ?'

'क्या चाहिए ?' गिखोर ने पूछा। नीचे हँसी और तेज हो गई।

- 'तुझसे पूछ रहे हैं कि मालकिन घर पर हैं या नहीं ?'

- आदमी को गुस्सा आ गया।

'क्या है ?' शोर सुनकर मालकिन बाहर आई।

-मर जाओ, जाओ दरवाजा खोलो, जल्दी से। वह चिल्लाई और गाली देने लगी गिखोर और अपने पति को। मेहमान जल्दी अन्दर दाखिल हुए तो उसने हँसकर स्वागत किया।

- 'आ SS नमस्ते, नमस्तेअचानक कैसे आना हुआ।'

- 'कहाँ से मिला ये ?' ऊपर से नीचे तक गिखोर को देखकर आदमी ने पूछा। महिलाएँ लगातार हँस रही थीं।

- क्या ईर्ष्या हो रही है ? चाहिए तो आप लोगों को दे दूँगी - मजाक बनाकर मालकिन बोली और मेहमान हँसते हुए घर के अन्दर पहुँचे।

मलकिन नातो ने गिखोर को जल्दी से कहीं भेज दिया और तुरन्त मेहमानों के पीछे अन्दर चली गई।

एक-दूसरे के हाल-चाल पूछने के बाद मेहमानों के अन्दर आने की कहानी बतानी शुरू की और इस तरह एक बहुत बड़ी कहानी बन गई।

- 'ओप्फ, मैं तो परेशान हो गई हूँ। श्रीमती नातो शिकायत कर रही थीं। उसके हाथ में क्या है ? कहती हूँ कि बाहर निकाल दे इसे पर आर्तेम के स्वभाव को जानते हो न। कहते हैं लाचार है, गाँव का बच्चा है, रहने दो, एक टुकड़ा खाएगा, सीख जाएगा.....आखिर कब तक ?'मैं तो पागल हो जाऊँगी।

- 'अरे! ओह! यह नौकरों की बात छोड़िए'- इधर-उधर से महिलाएँ शिकायत करने लगीं।

आधे घंटे तक इधर-उधर की बातें, अपने नौकरी की बातें, शहर की खबरें.....। इसी समय गिखोर पसीने से तर-बतर घर के अन्दर आया।

–‘मालकिन फल लाया।’

–‘हाँ, ठीक है जाओ’- श्रीमती नातो ने शरमाते हुए आदेश दिया। मेहमान हँसने लगे।

–‘मालकिन, साहब ने कहा है कि चेरी महँगा है, जरूरी नहीं हैं.....।’ इस बात पर मेहमानों की हँसी फूट पड़ी तो उन्होंने मुँह पर रूमाल रख लिए। कुछ लोग घर की मालकिन की शर्मिन्दगी छुपाने के लिए कहने लगे कि सही में चेरी महँगा है। इस समय चेरी कौन लेता है? फिर कहने लगे कि इसकी क्या जरूरत है। हम लोग फल खाने के लिए थोड़े आए हैं। परेशान क्यों होते हो.....? मालकिन शर्म से कानों तक लाल हो गयी और उसने परिस्थिति समझाने की कोशिश की।

–‘किसको पता क्या कहे होंगे, यह बेवकूफ समझा ही नहीं होगा।’

–‘जो झूठ बोलता है वह मर जाए’- गिखोर कसम खाता है। और सब मुद्दा खतम हो गया।

6

मेहमानों के जाने के बाद मालकिन नातो गुस्से में जोर-जोर से फल वाली मेज साफ कर रही थी। वह गिखोर को गालियाँ दे रही थी और बीच-बीच में अपनी किस्मत और पति को भी कोस रही थी।

–‘कोई बात नहीं बेटा, नया है बेटा.....क्यों मन छोटा करती हो.....हे भगवान मुझे उठा क्यों नहीं लेते!’ बूढ़ी माँ विलाप कर रही थी।

–मेरी इस हालत में तुम मुझे क्यों समझा रही हो। वह नया है, तो तुम खुद जाकर करो। मैं तुम्हारी नौकरानी नहीं हूँ।- आवाज और ऊँची करके बहू ने बूढ़ी माँ को जवाब दिया और उसे कोसती रही।

पति के पैरों की आहट सुनते ही वह रोने लगी और चिल्ला-चिल्ला कर बोलने लगी। बर्तन एक दूसरे पर पटकने लगी।

–‘कहती हूँ न, निकालो उसको। मैं नौकर का काम भी करूँगी। अच्छा नौकर रखने के लिए तुम पैसा खर्च

नहीं करना चाहते..... इससे अच्छा है कि मैं ही नौकर का काम करूँ। रोज-रोज तो यह दुःख न सहना पड़ेगातुम मेरे दुश्मन तो नहीं हो.....?’

–‘क्या हो गया?’ घर के बीचों-बीच खड़े होकर व्यापारी ने पूछा।

–‘क्या होना चाहिए? सिर्फ यही बाकी था कि तुम, लोगों के बीच में मुझे बेइज्जत करो। यह भी किया, और क्या होना चाहिए।’

और मालकिन ने चेरी की पूरी कहानी सुना दी।

–‘ओफफो!’ आश्चर्य और गुस्से में व्यापारी बोला।

–‘हे भगवान!’ – कहती हुई बुढ़िया आशंकित इधर-उधर टहल रही थी।

व्यापारी ने गिखोर को बुलाया। गिखोर पैर पटकते हुए घर के अन्दर दाखिल हुआ। ‘इधर आओ SS’ – व्यापारी ने उसे बुलाया।

गिखोर उसके चेहरे से डरकर अपनी जगह पर खड़ा रहा।

–‘तुमको कह रहा हूँ, इधर आ.....SS।’

गिखोर इस बार हिला, लेकिन फिर भी अपनी जगह पर खड़ा रहा।

– अबे, भालू के पिल्ले, मैंने तुमको कहा था कि मालकिन को बोलना, लेकिन तूने मेहमानों के सामने कहा कि चेरी महँगा है।

– मैंमैं.....मालकिन.....वह सफाई देना चाहता था पर मुँह पर थप्पड़ गूँजा। आँखों से चिंगारी निकली, सिर दीवार से टकराया और वह जमीन पर गिर गया। अब व्यापारी उसे पैर से मार रहा था, बार-बार दोहरा कर – ‘SS चेरी महँगा है हाँ SS.....चेरी महँगा है SS.....SS।’ तरस खाकर बूढ़ी माँ काँपती हुई बीच में आई। क्रोधित बेटे को वह पीछे खींचने की कोशिश कर रही थी। मालकिन भी आ गई। बच्चे भी चिल्लाने लगे। व्यापारी रुका और उसने फिर दोहराया.....

–‘SS चेरी महँगा था, हाँ?’ SS

हमेशा की तरह आँखें बड़ी करके गिखोर सिमट कर कोने में बैठ गया। वह भय और दर्द से काँप रहा था- ‘आह माँ! आह माँ! आह माँ!’

व्यापारी ने देखा कि गिखोर घर में काम नहीं कर पाता तो वह उसे दुकान पर लाया। दुकान पर सामान उठाकर खरीदारों के घर छोड़ना, कपड़े तह करके रखना, दुकान साफ करना एऔर खाली समय में खरीदारों को बुलाना—यह काम था उसका।

अभी गिखोर खाना लेकर दुकान पर जा रहा था। पुराने, घिसे हुए, मटमैले रंग के बड़े-बड़े जूते पाँवों में खींचते हुए पुल पर चल रहा था। गिखोर ने नीचे देखा, 'खुर' नदी का पानी लहराता हुआ पत्थरों से टकराता था, कभी तेज कभी धीमे। किनारे पर हरे रंग की नाव चल रही थी। नाव पर दो लोग सवार थे। एक मछली पकड़ने का जाल कस रहा था, और दूसरा नाव चला रहा था।

— 'अभी निकलेगा'— गिखोर बोला और रुककर मछलियों को देखने लगा मछली पकड़ने का जाल बाहर खाली निकला।

— यह मेरी जानी (बहन) की किस्मत से। यह भी खाली निकला।

— यह गालो (भाई) की किस्मत से। गालो भी बेकिस्मत।

— यह भी खाली.....

उसी समय उसे शोर सुनायी दिया। एक फारसी आदमी गा-गाकर बंदर को नचा रहा था।

'आओ बंदर आओ बंदर.....

सुंदर बंदर पहाड़ का बंदर.....

बूढ़ों की तरह झुक के चलो

जवानों की तरह नाचो

आओ बंदर आओ बंदर.....'

लोग जमा हो गए। चारों तरफ से लोग दौड़ रहे थे। गिखोर भी दौड़ा। उसने लोगों के बीच से आगे जाने की कोशिश की लेकिन वह नहीं पहुँच पाया। गर्दन को कसकर ऊँचा किया, पैरों की उँगली पर खड़ा हुआ। वह जरूर देखना चाहता था कि बीच में क्या हो रहा है।

— 'क्यों अंदर घुस रहा है, ए बदमाश, जाओ अपने काम पर.....'

— किसी ने कहा और पीछे से सिर पर थप्पड़ मारा।

गिखोर अचानक जैसे जागा और दुकान की ओर दौड़ा।

शाम को गिखोर रसोईघर में भयभीत बैठा हुआ था। अभी तक उसके चेहरे पर आँसू नहीं सूखे थे। अभी तक मालिक के थप्पड़ों की जगह जलन हो रही थी। अभी-अभी मालकिन चुप हुई थी।

व्यापारी का दूसरा नौकर वासो अन्दर आया। गिखोर को देखकर तुरन्त रुक गया और उसने गम्भीर होकर पूछा..... 'क्लब में देर हो गई या दफ्तर में कोई काम था.....।'

गिखोर ने सिर नहीं उठाया।

— 'अबे, बोलोपर गिखोर चुप था।'

— 'नहीं सुन रहे हो, अबे कहाँ था? मुझे तो भूखों मरवा दिया, अगर मरे तो?.....'

ऐसे बात करते हुए वह धीरे-धीरे पास आया, थोड़ा रुककर अचानक सिर पर मारा। गिखोर दोनों हाथों से सिर पकड़ लिया और दीवार की ओर छिपा लिया। वासो दूसरे तरीके से मारने वाला था। लेकिन मालिक की आहट हुई। वह आ रहा था।

— 'अबे, देख वह तेरा क्या करेगा?' वासो ने धमकी दी। SS अभी मुझे मारेंगे....SS गिखोर ने सोचा और बेचारा डर गया।

मालिक ने दुकान में काफी पीटा था। अब खाना न देने का हुक्म दिया ताकि उसे पता चले कि भूख क्या होती है। खतरा समाप्त हो गया। गिखोर शांत हो गया। लेकिन मालकिन की आवाज आ रही थी। वह चिल्ला रही थी.....

— 'आखिर क्यों रखते हो, निकालो, जाने दो, निकालो.....'

गिखोर ने कमबल में अपना सिर छिपा लिया। SS चाँदनी रात है, मुझे बिल्कुल नींद नहीं आ रही है, कोई मुझे देखकर सोचेगा कि मेरा घर नहीं है आह, घर नहीं हैSS यह गाना गाते हुए वासो खाना खा रहा था। गिखोर कमबल को खींचकर कभी देख रहा था, कभी आँखें बंद कर लेता था। उस दिन उसने खाना नहीं खाया, मार खाई और रोया। अब भूखा बिस्तर पर था और नींद

नहीं आ रही थी।

–‘कैसा है? भूख में नींद नहीं आ रही है?’ ‘हाँ, ऐसे ही.....’ बदमाश बासो बोला और एक रोटी का टुकड़ा गिखोर को दिया।.....ले कम्बल के अन्दर चुपचाप खा ले, मालिक न सुने। गिखोर ने रोटी का टुकड़ा झपट लिया और चुपचाप खाने लगा और अपने घर के बारे में सोच रहा था। उन दिनों के बारे में सोच रहा था जब वह केवल खेलता था खेतों में, जी-भर के खाना खाता था। उन शामों के बारे में सोच रहा था जब उसे शहर लाने के लिए माता-पिता झगड़ा करते थे.....माँ रोती थी, वह नहीं चाहती थी.....

– हे माँ तुम्हारा मन सही समझता था- आह भरी गिखोर ने और रोटी का टुकड़ा मुँह में रखा पर उसका ध्यान था कि मालिक आता तो नहीं।

सुबह वह दुकान के दरवाजे पर खड़ा था।

10

दुकान के दरवाजे के पास खड़े होकर गिखोर आवाज दे रहा था। खरीदारों को बुला रहा था और ऊँची आवाज में सामान की तारीफ कर रहा था।

–‘बुलाओ! अबे ऐसे क्या खड़े हो। मुँह में पानी तो नहीं है?’

–‘इधर आइए, इधर आइए’.....बुला रहा था गिखोर। अन्दर सब खूब हँस रहे थे।

वे उसको सिखाते थे कि खरीदार को कैसे दुकान पर लाना है। वह अक्सर लोगों को पकड़ता था और इधर-उधर जाने वालों को कपड़ों से खींचकर जबरन दुकान की ओर लाता था और तब तक नहीं छोड़ता था जब तक आदमी गुस्सा न करे। तब फिर से अपनी जगह खड़ा हो जाता और खरीदारों को बुलाता.....।

गर्मी के दिनों में, देर तक खड़े रहने से थक कर वह कभी-कभी दुकान के सामने रखे हुए कपड़ों पर बैठ के सो जाता था।

मालिक आवाज देता था सो रहा है क्या? अबे भालू के पिल्ले, आवाज दे!

11

एक दिन गिखोर ग्राहकों को बुला रहा था। सामने से

दो किसान गुजरे। वह दौड़कर उनसे लिपट गया।

–‘हे लड़के! अरे, पहचाना भी नहीं, यह क्या हो गया।’

हैरान होकर गाँव वालों में से एक ने दूसरे से कहा।

–‘बाजो, तुम पहचान पाते?’

–‘मैं तो उसकी आँखों से पहचान गया था।’ अपनी तारीफ करते हुए दूसरा बोला।

सही है। गिखोर बहुत बदल गया था। वह दुबला हो गया था। खुद तो बदल ही गया था, उसके कपड़े भी बदल गये थे। उसे पहचानना कठिन था।

– अच्छा इंसान बन गया है.....शाबास! उसके कपड़े.....उसका व्यवहार.....’ प्रशंसा में गाँव वालों बोले-

‘हामबो को देखो, उसने अपने बेटे को कहाँ से कहाँ पहुँचा दिया और हमारे बच्चे वहाँ जानवर चराते हैं।’

तभी गिखोर ने पूछा- ‘मेरी माँ कैसी है?हमारे भाई-बहिन कैसे हैं?मेरे पापा क्यों नहीं आए?हमारी गाय ने बछड़ा दिया था या नहीं.....हमारे गाँव में कौन मरा....?’

– ‘सब ठीक हैं। सब अच्छे हैं।’- गाँव वालों ने उत्तर दिया। सुखनानाहस गुकासुर मर गया और पुचुरानथ बूढ़ा भी। बाकी सब ठीक हैं।

–‘मेरे पापा क्यों नहीं आते?’

–‘तुम्हारा पापा आना तो चाहता है पर कैसे आए? वह अकेला है। घर का पूरा काम उसके ही ऊपर है।’

–तो उन्होंने कुछ नहीं भेजा?.....

–‘उनके पास क्या है, कि भेज दें। तू अपने घर का हाल जानता है न.....। बेचारा गरीब तुम्हारा बाप बड़ी मुश्किल से काम चलाता है। उनसे तू क्या चाहता है? अगर कुछ तुम्हारे पास है तो तुम ही भेजो। वहाँ बहुत खर्च है। उनके हाथ में पैसे नहीं हैं।’

–‘हमारे घर वाले बीमार तो नहीं हैं?’

–न, ‘बस तुम्हारी गाय (त्सागीक) बाड़े में गिर गयी और मर गयी।’

–‘बेचारी तुम्हारी माँ इतना रोयी कि उसकी आँखें सूज गयीं।’ यह कहकर गाँव वालों में से एक ने गिखोर को एक

पत्र दिया और बोला अभी तुमको कुछ कहना है। 'हम और नहीं मिल पायेंगे। हम जाने वाले हैं। यदि अपनी माँ और बहिन के लिए कुछ भेजना है तो दे दो, हम ले जाते हैं।'।

– 'कहाँ से कुछ भेज दूँ, अभी मुझे पैसा नहीं मिलता....पर....'

– 'पर क्या.....?'

– 'तुम लोगों के साथ चलना चाहता हूँ। हमारे गाँव की, हमारे घर वालों की याद आती है.....और.....।'।

– 'अरे! अरे, हम लोग तो सोचते हैं कि तू आदमी बन गया। होशियार हो गया.....ऐसी बातें क्यों कर रहा है? तू यहाँ पर अच्छे से रहता है.....कपड़े नए.....हाथ-पैर साफ.....'

'तू अगर जगह बनाए तो हम सोचते हैं कि हम भी हमारे बच्चों को यहाँ भेज दें लेकिन तू ऐसा क्यों बोल रहा है?'

'कहा जाता है कि सुअर को कितनी भी साफ-सुथरी जगह में रखो लेकिन वह गंदगी में ही रहता है।' 'यह कहावत खासकर तुम्हारे लिए ही कही गई है.....।'।

इस प्रकार गाँव वाले उससे मिलकर, समझा-बुझाकर और ठीक से रहने की हिदायत देकर चले गए। उनके जाने के बाद गिखोर एक कोने में बैठ गया और उसने अपने पिता की चिट्ठी खोली।

'मेरे प्यारे बेटे गिखोर जान!'

शहर तिब्बिसी

हम सब ठीक और स्वस्थ हैं। हम सबको तुम्हारे सेहत की चिंता रहती है। हम सब तुम्हें बहुत याद करते हैं- पापा, माँ, जानी, मोखी, मीकीच, गालो सब। हमारे प्यारे बेटे गिखोर, यह जान लो कि हम सब बहुत खराब हालत में हैं और साहूकार उधार पैसा मांगते हैं लेकिन पैसा नहीं है। तुम्हारी माँ और जानी के पास कपड़े भी नहीं हैं। बहुत बुरी हालत है। गिखोर जान कुछ पैसा भेजना और एक चिट्ठी अपने बारे में लिखना। यह भी जान लो कि त्सागीक (गाय) मर गई है। माँ और जानी के पास कपड़े नहीं हैं।'।

चिट्ठी पढ़कर वह अपनी जगह पर खड़ा रहा। गिखोर अपने घर के बारे में सोचकर विचलित हो उठा। उसका

मन उदास हो गया। उसे बार-बार याद आता है- 'माँ और जानी बिना कपड़ों के हैं, हम बुरी हालत में हैं.....'।

आवाज़ दे, अबे क्या हो गया। उनके साथ तेरा होश चला गया.....? – अंदर से किसी ने आवाज दी।

– इधर आइए.....यहाँ आइए.....दुकान के दरवाजे के पास खड़े होकर गिखोर ग्राहकों को बुला रहा था।

12

जाड़े का मौसम आ गया है। सर्द बर्फ़ीली तेज हवाएं सरसराती हुई गलियों से गुजरती हैं। गलियों के किनारों पर रहने वाले गरीब बेघर बच्चों को ही मानो ये हवाएं ढूँढती फिर रही हों। यहाँ उसे गिखोर मिला। एक पतला कुर्ता पहने गिखोर दुकान के सामने खड़ा आवाज देता था।

– इधर आइए....., इधर आइए.....

तलवार की तरह काटती हुई सर्दी हड्डियों तक पहुँची। गिखोर कांपने लगा।

वैसे भी वह बहुत दुबला-पतला हो गया था, और इतनी सर्दी उसे बीमार करने के लिए काफी थी।

13

बीमार गिखोर व्यापारी आर्तेम के रसोईघर में बिस्तर पर पड़ा हुआ था। बूढ़ी माँ दिन में कई बार अंदर आती थी, अपने- अपने बड़बड़ाते हुए।

'क्या चाहिए, बेटा गिखोर.....?'

'पानी.....'।

बूढ़ी माँ पानी लायी। बीमार गिखोर ने कांपते हाथों से गिलास पकड़ा। पानी पिया और फिर मांगा।

– 'इससे मेरा मन नहीं भरता बूढ़ी माँ.....मैं अपने झरने का ठंडा पानी पीना चाहता हूँ.....बूढ़ी माँ, मैं अपने घर जाना चाहता हूँ'.....मैं अपनी माँ के पास जाना चाहता हूँ.....व्यापारी आर्तेम परेशान हो गया। इधर-उधर घूमा कि कोई आदमी उसके गाँव का मिल आए। तब एक आदमी से खबर भेजकर उसने हामबो को बुलवाया। हामबो आया और गिखोर को शहर के अस्पताल में ले गया। वहाँ पर मरीजों की बहुत लंबी-लंबी कतारें लगी हुई थीं। सब मरीज दुःख और दर्द से कराह रहे थे, और कमजोर नजरों से देख रहे थे। गिखोर भी उनकी कतार में लेट गया। हामबो वहाँ

आया। - 'यह क्या हुआ गिखोर बेटा' - फूट-फूटकर रोते हुए हामबो गिखोर के पास आया। गिखोर ने बुखार में नहीं समझा कि उसका पिता आया है।

- 'गिखोर जान, मैं आया हूँ, हे, गिखोर जान.....मैं तुम्हारा पापा हूँ, अरे.....'

बीमार गिखोर कुछ नहीं समझा। वह बुखार में बड़बड़ा रहा था- 'मीकीच, जानी, पापा, माँ.....SS।'

- 'यहाँ हूँ मैं, गिखोर जान।' तुम्हारी माँ ने भेजा है तुमको घर ले जाने के लिए.....नहीं चलोगे..... ?'

'मीकीच और जानी तुम्हारी राह देख रहे हैं। क्या कह रहे हो..... ? कुछ बोलो गिखोर जान.....'

- 'इधर आइए.....इधर आइए.....' बीमार गिखोर आवाज दे रहा था। बीमार गिखोर तरह-तरह के बेमतलब, टूटे-फूटे शब्द बोल रहा था और हँस रहा था।

14

दो दिन बाद हामबो गाँव जा रहा था। उसने गिखोर

को दफना दिया था। गिखोर को दफना कर वह वापस अपने गाँव जा रहा था। बाजू में वह गिखोर के कपड़े दबाए ले जा रहा था ताकि माँ उन पर मातम कर ले। कपड़ों के जेब में कुछ चमकदार बटन, तरह-तरह के कागज और कपड़ों के टुकड़े थे। शायद जानी के लिए उसने जमा किए थे। जब इसी रास्ते से गिखोर के साथ शहर आया था, अभी वहीं पर है, जब उसने कहा था- 'पापा, पैरों में दर्द हो रहा है...यही वह पेड़ है जिसके नीचे बैठकर उन्होंने आराम किया था। यहीं पर उसने कहा था....पापा प्यास लगी है।..... ये वही झरना है जहाँ उसने पानी पिया था। सब, सब कुछ है, केवल वही नहीं है.....

दूसरे दिन जब हामबो पहाड़ों से गुजर रहा था, दूर से उसे अपना गाँव दिखायी दे रहा था।

गाँव के बाहर माँ, जानी, मीकीच, मोसी इंतजार कर रहे थे और छोटा गालो माँ की गोद से बुला रहा था-

- 'आओ, आओ, हे गिखोल.....'

संपर्क: 9451945847

स्मृति-शेष

पिछले दिनों हिंदी के वरिष्ठ कथाकार जगदम्बा प्रसाद दीक्षित, मधुकर सिंह, कवि छविनाथ मिश्र, नोबेल पुरस्कार प्राप्त अंग्रेजी की कथा लेखिका नदीन गोर्डिमर, प्रसिद्ध संस्कृति कर्मी जोहरा सहगल, प्रख्यात कन्नड़ साहित्यकार यू.आर.अनन्तमूर्ति, निर्भय मल्लिक, विश्व प्रसिद्ध फिल्मकार रिचर्ड एटेनबरो एवं इतिहासज्ञ बिपन चंद्र के पुण्य-प्रयाण पर...

श्रद्धावनत्
'मुक्तांचल' परिवार

गतिविधियाँ

‘अभियान सांस्कृतिक मंच’, पटना द्वारा गैब्रियल गार्सिया मारक्वेज की स्मृति में आयोजित संगोष्ठी

विगत 15 जून 2014 को पटना के जमाल रोड स्थित ‘माध्यमिक शिक्षक संघ भवन’ में ‘अभियान सांस्कृतिक मंच’ द्वारा मारक्वेज की स्मृति में उनकी कथा धारणा पर एक संगोष्ठी का आयोजन किया गया। इस संगोष्ठी में प्रसिद्ध कथाकार राणा प्रताप ने कहा कि मारक्वेज एक ऐसे कथाकार थे, जिन्होंने उपन्यास की यूरो केन्द्रित शैली को उलट दिया। उन्होंने मारक्वेज के आदर्शों को संकेतिक करते हुए साहित्यकार के एक्विविस्ट होने की जरूरत पर बल दिया। राणा प्रताप ने मारक्वेज के जीवन के विविध पहलुओं पर प्रकाश डालते हुए उनके महत्वपूर्ण मन्तव्यों को उद्धृत किया। पटना विश्वविद्यालय के अंग्रेजी के अवकाश प्राप्त प्रोफेसर शैलेश्वर सती प्रसाद ने मारक्वेज की बहुचर्चित उपन्यास ‘एकान्त के सौ वर्ष’ में निहित जादुई यथार्थ की विस्तार से चर्चा की। उन्होंने मारक्वेज के लोकवार्ता एवं फंतासी की परंपरा को भारतीय परिप्रेक्ष्य में शोधते हुए कहा कि मारक्वेज के नैरेटिव स्ट्रक्चर को अपने यहाँ के रामायण, महाभारत एवं कथा सरित्सागर की वाचिक परम्परा के समकक्ष रख सकते हैं। चर्चित कवि अरुण कमल ने गैब्रियल गार्सिया मारक्वेज की प्रतिबद्धता पर प्रकाश डालते हुए कहा कि वे अमेरिकी साम्राज्यवाद का विरोध करने वाले राजनैतिक लेखक थे। इस स्मृति सभा में वामपंथी चिन्तन धारा से संबद्ध विविध सामाजिक एवं सांस्कृतिक संस्थाओं के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। अनीश अंकुर ने सभा का संयोजन एवं संचालन किया।

इस सभा में बंगला कवि विद्युत पाल, संतोष सहर, अरुणा मिश्रा, अरुण श्रीवास्तव, उर्दू के कथाकार शमोएल अहमद, शायर संजय कुमार कुंदन, रत्नेश चौधरी, पार्थ सरकार, सतीश, गालिब खान, वरिष्ठ रंगकर्मी कुणाल झा, सुरेश कुमार हज्जू, विनोद कुमार वीनू, हसन इमाम एवं अमरेंद्र अनल, युवा कवि राकेश प्रियदर्शी, युवा रंगकर्मी जयप्रकाश, कुणाल, रविशंकर, विनीत राय, जीतेन्द्र, राजकुमार शाही, गोपाल शर्मा, मनोज चंद्रवंशी, बी. एन. विश्वकर्मा आदि अनेक बुद्धिजीवी एवं सांस्कृतिक कर्मी उपस्थित थे।

प्रस्तुति- अनीश अंकुर

साहित्यकार अमरकांत : कुछ यादें कुछ बातें

जनवादी लेखक संघ एवं प्रगतिशील लेखक संघ द्वारा महात्मा गाँधी अन्तर्राष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा के क्षेत्रीय कार्यालय इलाहाबाद स्थित परिसर में 01 जुलाई 2014 को कथाकार अमरकांत जी पर एक स्मरण सभा का आयोजन किया गया। इस संगोष्ठी में विशिष्ट अतिथि के रूप में प्रख्यात कथाकार रवीन्द्र कालिया एवं ममता कालिया उपस्थित थे। रवीन्द्र जी एवं ममता जी ने अमरकांत से सम्बद्ध तमाम संस्मरण सुनाए, जिससे लेखक के संवेदनशील एवं प्रेरक व्यक्तित्व का परिचय उजागर हुआ। प्रोफेसर राजेन्द्र कुमार ने अमरकांत की सहजता एवं सरलता की छाप उनकी रचनाओं में दर्शाते हुए, उनकी भाषा की ताकत को सराहा। लखनऊ के कथाकार एवं आलोचक शकील सिद्दीकी ने कहा कि अमरकांत जी अपने पात्रों के साथ गहरा तादात्म्य रखते थे। आलोचक प्रणय कृष्ण ने अमरकांत जी के उपन्यास ‘विदा की रात’ के सन्दर्भ में मुसलिम जीवन पर आधारित उपन्यासों में सांप्रदायिकता के प्रश्नों को उठाया। लखनऊ से आये युवा-आलोचक नलिन रंजन सिंह ने अमरकांत को सामान्य जन का कथाकार उद्घोषित करते हुए, सन्दर्भ रूप में उनकी ‘मूस’, ‘बौरैया कोदो’, ‘छिपकली’, असमर्थ हिलता हाथ’ आदि कहानियों की चर्चा की। कार्यक्रम के शुरुआत में अमरकांत के छोटे पुत्र अरविंद बिंदु ने अपने कथाकार पिता से संबंधित संस्मरण सुनाए।

गोष्ठी का संचालन जनवादी लेखक संघ की इलाहाबाद इकाई के सचिव संतोष चतुर्वेदी ने किया, जबकि धन्यवाद ज्ञापन जनवादी लेखक संघ के स्थानीय अध्यक्ष कवि हरीश चन्द्र पांडे ने किया, सभा के शुरू में प्रलेस की सचिव कवयित्री संध्या निवेदिता ने अतिथियों का स्वागत किया। गोष्ठी में भाग लेने वाले प्रमुख लोगों में प्रोफेसर अली अहमद फातमी, संतोष भदौरिया, श्री प्रकाश मिश्र, सूर्य नारायण, सुधीर सुमन, प्रवीण शेखर, रमाकांत राय, मृत्युंजय, अंशुल त्रिपाठी, रतीनाथ योगेश्वर, श्रीरंग,

नीलम शंकर, रामप्यारे राय, अनिता गोपेश, अजामिल, हिमांशु रंजन, यश मालवीय, असरार गाँधी, रमाशंकर सिंह, अरिंदम घोष, सुनील यादव, शैलेन्द्र जय, रामायण राम, सीमा आजाद, मुरली धर, उत्कर्ष मालवीय, विश्व विजय, शैव्य कुमार पाण्डेय आदि थे।

प्रस्तुति- संतोष चतुर्वेदी

यूनिफ़ोड पर कार्यशाला

दिनांक 06/08/2014 नगर राजभाषा कार्यान्वयन समिति (नराकास) हल्द्वानी के तत्त्वाधान में यूनिफ़ोड टाइपिंग प्रशिक्षण पर एक कार्यशाला का आयोजन किया गया, जिसमें नराकास के सदस्य कार्यालयों, जैसे- केंद्रीय सरकार के कार्यालय, बैंक एवं सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रम आदि सम्मिलित थे। इसमें लगभग 40 प्रतिभागियों ने प्रशिक्षण प्राप्त किया।

इस कार्यशाला का उद्घाटन संयुक्त आयकर आयुक्त- श्री सत्यप्रकाश ने किया, जो नराकास के क्षेत्रीय अध्यक्ष भी हैं। इनके अतिरिक्त उपमहाप्रबंधक (बैंक ऑफ़ बड़ौदा) एवं क्षेत्रीय उपाध्यक्ष (नराकास)- श्री संजय कुमार, एम. टी. आई., हल्द्वानी के प्राचार्य श्री शेखर चंद्र, नराकास के क्षेत्रीय सचिव और राजभाषा अधिकारी मनोज कुमार साव ने भी इसमें अपना योगदान दिया।

इस कार्यशाला में यूनिफ़ोड संबंधित विभिन्न पहलुओं पर विस्तार से विचार-विमर्श किया गया एवं 'नराकास' सचिव श्री मनोज कुमार साव (राजभाषा अधिकारी, बैंक ऑफ़ बड़ौदा, क्षे. का., हल्द्वानी) द्वारा सभी प्रशिक्षुओं को अवगत कराया गया कि यूनिफ़ोड एक अंतर्राष्ट्रीय मानक है, जिसके आधार पर भारतीय व अन्य क्षेत्रीय भाषाओं के लिए फ़ॉन्ट तैयार किए जाते हैं। हम किसी भी भाषा को इन्कोडिंग व्यवस्था के तहत मानक स्वरूप प्रदान कर सकते हैं और इस आधार पर फ़ॉन्ट निर्मित किए जा सकते हैं। वर्ष 2000 के बाद निर्मित सभी कम्प्यूटरों में यूनिफ़ोड सक्रिय किया जा सकता है। कम्प्यूटर पर यूनिफ़ोड साफ़्टवेयर को कैसे सक्रिय करना है, इसका प्रयोग कैसे किया जाता है, यह बताते हुए प्रत्येक प्रतिभागी को कम्प्यूटर पर अभ्यास भी करवाया गया और बताया गया कि यूनिफ़ोड प्रत्येक अक्षर के लिए एक विशेष नम्बर प्रदान करता है, चाहे कोई भी प्लैटफ़ॉर्म हो, चाहे कोई भी प्रोग्राम हो, चाहे कोई भी भाषा हो। यूनिफ़ोड सुविधा से युक्त कोई भी कम्प्यूटर किसी भी की-बोर्ड से टाइप करते हुए हिंदी का टेक्स्ट प्राप्त कर सकता है।

प्रस्तुति- मनोज कुमार साव

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में दो दिवसीय अंगोष्ठी

हिंदी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी एवं केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा के संयुक्त तत्त्वावधान में 08-09 अगस्त, 2014 को "इक्कीसवीं सदी में हिंदी भाषा: चुनौतियाँ और संभावनाएँ" विषय पर राष्ट्रीय संगोष्ठी आयोजित की गई। इस अवसर पर बीज वक्तव्य हिंदी विभागाध्यक्ष प्रो. बलिराज पाण्डेय ने दिया। उन्होंने अपने वक्तव्य में भारत की समृद्ध भाषा परंपरा का उल्लेख करते हुए 'हिंदी भाषा' के महत्त्व और तकनीक के बढ़ते चरण के साथ हिंदी के विकास को जोड़ते हुए उसकी शक्ति को रेखांकित किया।

प्रधान वक्ता प्रो. गंगा प्रसाद विमल ने अपना विचार व्यक्त करते हुए कहा कि इक्कीसवीं सदी में हिंदी की स्थिति खराब नहीं हुई है, बल्कि उसका धरातल बहुत विकसित हुआ है। इस संदर्भ में उन्होंने (यू.पी.एस.सी.) के विवाद को रेखांकित करते हुए कहा कि हम इस सेमिनार से यह संकल्प लेकर लौटें कि इक्कीसवीं सदी की हिंदी को सरल, सहज और अर्थपूर्ण बना सकें। इसकी चुनौतियों का सामना कर सकें। प्रो. महेंद्रनाथ राय, प्रमुख कला संकाय काशी हि. वि. ने कहा कि बड़ी आबादी, बाजार में विकसित होने वाली और उत्पादन करने वाले वर्ग की भाषा हिंदी उपेक्षित हो रही है। अतः आवश्यक है कि उसके कान्टेंट को मजबूत बनाया जाए, जिससे दुनिया उसे अनुवाद करे, जिसके लिए अपनी भाषा के प्रति प्रेम होना जरूरी है।

प्रसिद्ध भाषा वैज्ञानिक प्रो. रामकिशोर शर्मा ने हिंदी भाषा में हुए व्याकरणिक ह्रास पर चिंता व्यक्त करते हुए कहा कि हिंदी की क्रियाएँ धीरे-धीरे अंग्रेजी में ढल रही हैं, जिससे भाषा के अस्तित्व पर संकट आ सकता है। डॉ. प्रभाकर सिंह

ने भाषा के अस्तित्व को बचाने के लिए गंभीर और सार्थक प्रयास पर बल दिया।

प्रो. श्रीनिवास पाण्डेय ने हिंदी भाषा के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए देवनागरी लिपि की वैज्ञानिकता को संचार माध्यम के लिए अधिक उपयुक्त बताया। इलाहाबाद विश्वविद्यालय के प्रो. मुश्ताक अली ने पत्रकारिता की भाषा पर प्रश्न चिह्न लगाते हुए, पत्रकारों को ऐसी भाषा प्रयोग के लिए विवश बताया; क्योंकि ऐसा न करने से उनकी आजीविका संकट में पड़ जाती है। इसी क्रम में डॉ. मनोज सिंह, डॉ. रंगनाथ पाठक, प्रो. राजकुमार और श्री आशुतोष पाठक ने भी अपने विचार प्रस्तुत किए।

संगोष्ठी के दूसरे दिन भाषा वैज्ञानिक राजमणि शर्मा ने भाषिक समस्याओं की ओर ध्यान दिलाया। उन्होंने इक्कीसवीं सदी में हिंदी के बदलते स्वरूप को सोदाहरण स्पष्ट किया। डॉ. विपिन कुमार ने दलित साहित्य पर प्रकाश डाला। डॉ. कमलेश वर्मा ने आचार्य रामचंद्र शुक्ल के भाषायी चिंतन के पक्ष को रखा। प्रो. चंद्रकला त्रिपाठी ने 'स्त्री लेखन' को आधार बनाकर जन संवेदना और हिंदी भाषा के बदलाव को उद्घाटित किया। जे.एन.यू. के प्रो. ओम प्रकाश सिंह ने उपन्यासों के माध्यम से हिंदी भाषा की संवेदनात्मक बदलावों को रेखांकित किया। का. हि. वि. वि. हिंदी विभाग के प्रो. अवधेश प्रधान ने हिंदी भाषा की व्यापकता का विश्लेषण करते हुए, वैश्विक स्तर पर उसकी स्थिति का स्वरूप उद्घाटित किया। प्रो. वशिष्ठ नारायण तिवारी ने भारतीय भाषाओं की स्थिति पर चिंता व्यक्त की। प्रख्यात कथाकार प्रो. काशीनाथ सिंह ने हिंदी भाषा के बदलते स्वरूपों की ओर प्रकाश डालते हुए, नये प्रयोगों की ओर संकेत किया। विशिष्ट अतिथि डॉ. नीरजा माधव ने भी इक्कीसवीं सदी की हिंदी भाषा की समृद्धि की बात कही। डॉ. आशीष त्रिपाठी एवं वशिष्ठ अनूप ने भी अपने विचार प्रस्तुत किए। इस क्रम में गरिमा तिवारी, रामयश तिवारी, विशाल विक्रम सिंह, आलोक कुमार, लक्ष्मण प्रसाद गुप्ता आदि ने शोध-पत्र की प्रस्तुति की।

प्रस्तुति- लक्ष्मण प्रसाद गुप्ता

चीन में नौवाँ अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन

नौवाँ अन्तर्राष्ट्रीय हिंदी सम्मेलन 20 से 26 अगस्त 2014 को चीन के बीजिंग में आयोजित किया गया। उक्त सम्मेलन, रायपुर की साहित्यिक संस्था 'सृजन-सम्मान' एवं अन्य सहयोगी संस्थाओं 'सृजन गाथा डॉट काम', 'छत्तीसगढ़ राष्ट्रभाषा प्रचार समिति', 'वैभव प्रकाशन', 'प्रमोद वर्मा स्मृति संस्थान', 'गुरु घासीदास साहित्य एवं संस्कृति अकादमी' के संयुक्त तत्वाधान में आयोजित किया गया। कार्यक्रम में देश एवं चीन के आधिकारिक विद्वानों, अध्यापकों, लेखकों, भाषाविदों तथा पत्रकार आदि सहभागी बनें। समारोह की अध्यक्षता चीन में पदस्थापित हिंदी के प्रोफेसर डॉ. गंगा प्रसाद शर्मा ने की और विशिष्ट अतिथि बीजिंग विश्वविद्यालय की हिंदी विभागाध्यक्ष पियोंग किपलिंग थीं। स्वागत भाषण 'राजभाषा प्रचार समिति वर्धा' के कार्यकारिणी सदस्य सेवा शंकर अग्रवाल ने देते हुए विगत आठ अंतर्राष्ट्रीय हिंदी सम्मेलनों की गतिविधियों पर प्रकाश डाला। अतिथियों में डॉ. खगेन्द्र ठाकुर, उद्भ्रांत, गिरीश पंकज एवं डॉ. रंजना अरगड़े आदि उपस्थित थे। कार्यक्रम का संचालन डॉ. सुधीर शर्मा ने किया।

उद्बोधन के दौरान अपने अध्यक्षीय भाषण में डॉ. गंगा प्रसाद शर्मा ने वेब पत्रिका सृजनगाथा डॉट कॉम के संपादक व अंतर्राष्ट्रीय हिंदी सम्मेलन के समन्वयक डॉ. जय प्रकाश मानस के अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर हिंदी के उन्नयन, प्रचार-प्रसार के लिए किए जा रहे सार्थक प्रयासों की खुले मन से सराहना की और कहा कि देश के साहित्यकारों द्वारा किया जा रहा यह निवेश एक दिन अवश्य हिंदी को विश्व की सबसे ज्यादा बोलने वाली भाषा की श्रेणी में लाकर खड़ा करेगी। विशिष्ट अतिथि पियोंग किपलिंग ने हिंदी को चीन की दूसरी भाषा कहकर भारत सरकार के केंद्रीय हिंदी निदेशालय के इस दिशा में किए जा रहे प्रयासों की सराहना की। मंचासीन अतिथियों में मीनाक्षी जोशी, गिरीश पंकज, उद्भ्रांत, डॉ. रंजना अरगड़े तथा डॉ. खगेन्द्र ठाकुर ने सभा को संबोधित किया।

प्रस्तुति- मीनाक्षी जोशी

‘अभिव्यंजना’ का पुनर्प्रकाशन राख में दबी चिंगारी के भभक उठने जैसा है। प्रसन्नता यह है कि यह कोरी भभक नहीं है इसमें चमक भी है और दमक भी। आप लोगों के साथ जुड़ी जनसाहित्य सम्मेलन की यादें कभी मैं भूल पाऊँगा क्या? सच पूछिये तो बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध के आपातकाल और इस इक्कीसवीं सदी के ‘आभासित आपातकाल’ का अन्तराल बेहद महत्वपूर्ण, प्रेरक और उत्तेजक साबित होने जा रहा है।

मीरा जी मेरी शुभकामनाएँ पूरी पत्रिका परिवार के साथ हैं। जनतांत्रिक चेतना की रक्षा में साहित्य, संस्कृति कर्मियों को आपसे बल मिल सकता है। मेरी यह उम्मीद निराधार नहीं है। यदि आपका नया अध्यवसाय भारतीय मनुष्य के नये बोधोदय की छटपटाहट से जुड़ पाया तो आगामी इतिहास आप सभी का ऋणी रहेगा।

‘अभिव्यंजना’ के जो दो अंक हमारे सामने हैं वे आप लोगों की संवेदन-समृद्ध-प्रतिबद्धता के साक्षी हैं। आपके नैतिक साहस पर भरोसा रखते हुए कहना चाहता हूँ कि रीतिकाल के जिन जारज संतानों की जकड़ में साहित्य की मुख्य धारा का ‘विमर्श’ जकड़ा हुआ है उससे मुक्ति की भी कुछ चेष्टा की जा सकेगी। जनोन्मुख साहित्य और जनमुक्ति से लैश आप ‘मुक्तांचल’ के एक अंक की स्मृति भी नहीं भूले होंगे। भाई आनंद सिन्हा जैसे सहृदय, तेजस्वी, भावुक, संरक्षक का सुलभ होना एक अतिरिक्त सुविधा है आपके लिए। अपनी ढलती उम्र के इन क्षणों में मैं हार्दिक बधाईयाँ देता हूँ और शुभकामनाएँ भी।

धुवदेव मिश्र ‘पाषाण’

लंबे अंतराल के बाद ‘अभिव्यंजना’ के प्रकाशन की खबर ने मन को प्रसन्नता दी। संपादक द्वारा भेजा गया अंक तीन, चार प्राप्त हुआ। पढ़कर पता चला कि यह पत्रिका लेखक, साहित्यकार के लिए गाइड का काम कर सकता है।

संपादकीय का उच्चस्तरीय चिंतन एवं विश्लेषण परक तथ्य व भीतर के आलेख कहानी, कविता सब के सब पत्रिका को गरिमा प्रदान कर रहे हैं। डॉ. राणा प्रताप का लेख ‘विचार और उत्तरआधुनिकता’ विशेष पठनीय रहा। धूमिल के गद्य लेखन की बानगी एक नई सूचना है जिसके लिए रत्नशंकर पांडेय को धन्यवाद देना आवश्यक है। बलराज पांडेय की कविता संग्रह की समीक्षा और अदम गोंडवी पर लिखा आलेख मन को भाया। कुल मिलाकर ‘अभिव्यंजना’ एक संग्रहणीय पत्रिका है, जिसमें समय की पड़ताल बड़ी गंभीरता के साथ करने का प्रयास किया गया है। इसके निरंतर प्रकाशित होते रहने की शुभकामना के साथ मैं मीरा सिन्हा जी के प्रयास को हार्दिक धन्यवाद देता हूँ।

हौशिला अन्वेषी, बांद्रा मुंबई

आप द्वारा प्रेषित ‘अभिव्यंजना’ के दोनों अंक (3 और 4) मिले; पर, इसके पहले कि मैं दोनों अंकों को पढ़ पाता, कोई और उन्हें पढ़ने के लिए लेता गया था। बहरहाल, अब दोनों अंक मेरे पास हैं और मैंने उन्हें ध्यान से पढ़ा है। सामग्री का चयन बड़ी शिद्दत और सूझ-बूझ से किया गया है। लेख-आलेख, कविताएँ, कहानियाँ (मूल हिंदी की और अनूदित), ‘विमर्श’ के अंतर्गत शोधपरक लेख, ‘गवेषणा’, ‘संचार’ और ‘अंतःपाठ’ के अंतर्गत लेख और ‘नई पहल नया कदम’- के अंतर्गत नवागंतुक रचनाकारों को पढ़कर यह तो स्पष्ट हो गया कि यह पत्रिका एक बड़े लक्ष्य को लेकर आगे बढ़ रही है और हिंदी साहित्य में यह न केवल चर्चा के केन्द्र में रहेगी अपितु आने वाले समय में मील का पत्थर साबित होगी। चूँकि मैं भी काफी समय से लेखन के साथ-साथ संपादन मंडल से जुड़ा रहा हूँ, इसलिए मैं दावे के साथ कह सकता हूँ कि संपादक मंडल इस पत्रिका की साज-सज्जा तैयार करने और सर्वांगीण कलेवर देने में गंभीरतापूर्वक दत्तचित्त है। यह जानकर अच्छा लगा कि ‘अभिव्यंजना’ का पुनःप्रकाशन हो रहा है। बेशक, इस पुनर्प्रकाशन के पीछे कोई बड़ी महत्वाकांक्षा छिपी हुई है- वह यह है कि हिंदी साहित्य को एक ऐसे शिखर पर बैठाया जाए जहाँ से यह पूरी दुनिया में मुखर हो सके। अंक-३ की ‘संस्तुति’ से यह स्वतः परिलक्षित होता है कि बहुत बड़े फलक पर यह समाज में चर्चा, बहस और विमर्श का दौर आरंभ करने जा रही है। मैं पत्रिका के लक्ष्य के साकार होने की हृदय से कामना करता हूँ।

डॉ. मनोज मोक्षेंद्र

अभिमत

साहित्यिक भगीरथ प्रयास के लिए आपको साधुवाद, 'अभिव्यंजना' का अंक-3, जनवरी-मार्च, 2014 मिला। विचार, विश्लेषण, शोध एवं सृजन की सार्थक अभिव्यक्ति, 'अभिव्यंजना' का पुनर्प्रकाशन एक सार्थक पहल है। पत्रिका की सामग्री संग्रहणीय है। आपके और डॉ. अर्चना पाण्डेय के कुशल संपादन में पत्रिका अपने लक्ष्य को अवश्य प्राप्त करेगी। पुनः साधुवाद के साथ!

“शब्द जब श्रृंगार करता है,
सबके चेतन पर वार करता है,
जब भी माँगा है देश ने इससे,
तलवार बन प्रहार करता है।”

डॉ. उमेश चंद्र शुक्ल

त्रैमासिक पत्रिका 'अभिव्यंजना' के दो अंक पढ़ने को मिले। पत्रिका दिलचस्प है। आपके द्वारा कहानियों, लेखों, कविताओं आदि के चयन की मैं दाद देता हूँ। जैसा कि आपने टाइटिल पर ही लिखा है- 'विचार, विश्लेषण, शोध एवं सृजन की अभिव्यंजना', वैसा पत्रिका में परोसी गई सामग्री से ही लक्षित होता है। उम्मीद है कि आपके सश्रम सत्प्रयास से यह पत्रिका हिंदी साहित्य में मील का पत्थर साबित होगी। मेरी हार्दिक शुभकामनाएँ!

प्रतीक श्री अनुराग

‘मुक्तांचल’ प्राप्ति स्थान

आनंद प्रकाशन :

176/178, रवीन्द्र सारणी, कोलकाता- 700007

प्रतिश्रुति प्रकाशन :

7ए, बेंटिक स्ट्रीट (लाल बाजार- गणेशचंद्र एवेन्यू के मध्य), कोलकाता- 700001

मानव प्रकाशन :

131, चितरंजन एवेन्यू, कोलकाता- 700073

मोहन बुक एजेंसी :

2, डेकर्स लेन, कोलकाता-700069

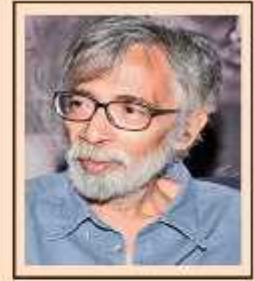
पुस्तकालय :

सेठ सूरजमल जालान पुस्तकालय (राम मंदिर), कोलकाता



इस पार तक...

नवारुण भट्टाचार्य
(23 जून, 1948 - 31 जुलाई, 2014)



जमाना आजाद हिन्दुस्तान का था और नवारुण जन्म से लेकर युवा होने के अनन्तर जिस देश को पहचान पा रहे थे वह सिहरा देने वाला था, सत्तर (1970) के दशक में बंगाल का राजनैतिक और सामाजिक परिवेश काफी दुर्घर्ष हो चुका था। उस समय नये लोग काफी बेचैन थे। नवारुण ने अपनी उसी बेचैनी को अभिव्यक्ति 1971 में प्रकाशित 'यह मृत्यु उपत्यका मेरा देश नहीं है' में की है। नवारुण भट्टाचार्य का सर्वाधिक चर्चित उपन्यास हर्बर्ट (1993) है। इस उपन्यास को 1997 में 'साहित्य अकादमी' पुरस्कार मिला था। इसके अतिरिक्त नवारुण की चर्चित कृतियों में 'महानगर कोलकाता' (2009) तथा 'कौगाल मालसात' (2013) भी हैं। नवारुण सदा व्यवस्था विरोधी रहे, चाहे किसी भी विचारधारा से लैस दल सत्ता में आये उसमें अपने वर्चस्व को बनाये रखने की प्रवृत्ति निरंकुशता एवं फासिज्म को जन्म देती है। नवारुण के लिए अन्याय एवं उत्पीड़न को बर्दाश्त कर पाना अत्यंत कठिन था। वे प्रतिरोध की संस्कृति के पुरोधा थे।

'भाषा बंधन' नामक पत्रिका का संपादन वे वर्षों तक करते रहे। इस पत्रिका द्वारा उन्होंने बांग्ला भाषा में हिन्दी के साथ तमाम आधुनिक भारतीय भाषाओं का द्वार खोल दिया। 'भाषा-बंधन' नवारुण की अनुवाद केन्द्रित पत्रिका रही है।

नवारुण भट्टाचार्य अपने एक साक्षात्कार में कहते हैं कि 'आज साहित्य के प्रति रोमांस (प्रेम) कम हो रहा है क्योंकि 'कल्चर' बदल रहा है। 'मास कल्चर' पाप्युलर हो रहा है उसके पीछे पैसे की शक्ति काम कर रही है। यह शक्ति चाहती है कि आपके सोचने विचारने की शक्ति कम हो जाये। आप संवेदनहीन हो जायें। इसलिए सोची समझी रणनीति के तहत आपको साहित्य लिखने पढ़ने से दूर किया जा रहा है।' शेष स्मृति के रूप में नवारुण की एक कविता उद्धृत है

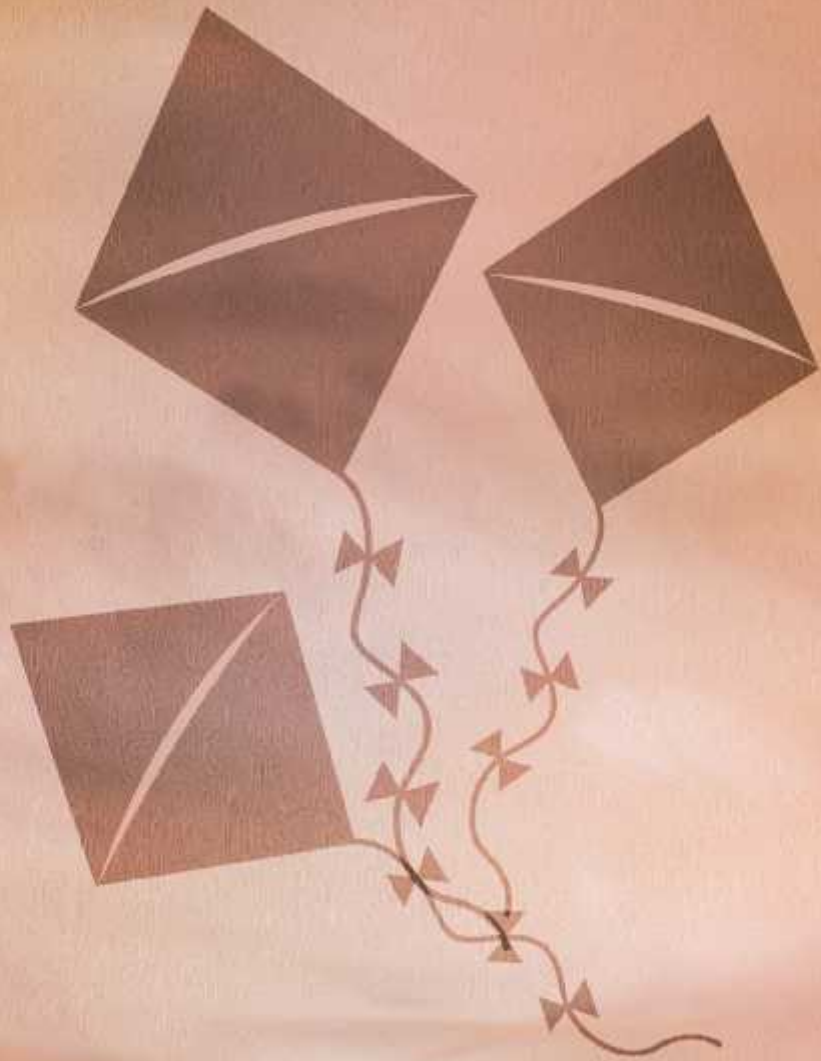
कविता के संबंध में कविता

भयभीत लोगों के पास से
जो कविता हट जाती है
वो सबसे डरी हुई कविता होती है
जिनके पैरों तले से
जमीन हट रही है
उसे जो कविता भरोसा नहीं दे पा रही है
वह कभी जमीन नहीं खोज पायेगा
ठंड से कंपकपाता, टिटुरता, आश्चर्यचकित रहेगा
बूढ़े और कुत्तों के सामने
जो कविता आग होकर न जले
उसे जला देना ही अच्छा है
साफ-साफ कह रहा हूँ
कविता के संबंध में
यही है मेरी कविता।

प्रयात रचनाकार को सतत प्रणाम!

Application No:1254088

Title code: WBHINO1615/25/1/2014-TC, Dtd: 18/07/2014



प्रकाशक : आनन्द कुमार सिन्हा द्वारा विद्यार्थी मंच, 6/2/1 आशुतोष मुखर्जी लेन, सलकिया हावड़ा-6 के लिए मुद्रित एवं प्रकाशित
मुद्रक: शिक्षण, 50, सीताराम घोष स्ट्रीट, कोलकाता- 700 009
संपादक : डॉ. मीरा सिन्हा